दमयन्ती

(महाकाव्य)

लेखक

ताराचन्द्र हारीत

प्रस्तावना

गोपालदास 'नीरज'

१९५७

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य

मुद्रक
यूनीक प्रेस
चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-६

प्रस्तावना

इतिहास जब करवट लेता है, तब परम्परायें और मान्यतायें ही नही बदलती, बल्कि संस्कृति का मानस-लोक और साहित्य का भाव-लोक भी परिवर्तित हो जाता है, जिसके कारण हमारी मन-स्थिति के साथ-साथ हमारे जीवन मूल्यों में भी व्यतिक्रम उपस्थित हो जाता है। इस परिवर्तन की दो प्रक्रियायें होती है । कभी तो यह परिवर्तन इतना तीव्र, इतना वेगगामी होता है कि हठात एक क्षण में सब कुछ बदल जाता है किन्तु कभी-कभी यह देश-विशेष की प्रकृति की सीमा-रेखाओ को स्पर्श करता हुआ, और उनमें परिशोधन एवम् परिवर्द्धन करता हुआ शनै शनै: अपना चरण-निक्षेप करता है और हमें उसका आभास तक नही हो पाता। १५ अगस्त, १९४७ के दिन भारत-भूमि ने भी एक ऐसी ही करवट ली थी। युगो से पददलित निरस्त्र देश ने शताब्दियों क दासत्व-शृंखलाओ को एक झटके में उतारकर फेंक दिया था । भारतवर्ष से पहले भी बहुत से देशों ने आजादी की लड़ाई लडी थी और विजय पाई थी, पर प्रत्येक देश के मुक्ति-यज्ञ में रक्त-बलि का शाप भी था। यह भारत ही था जिसने बिना तलवार के—त्याग से यह स्वतन्त्रता का सग्राम जीता। राजनीति में और विशेष रूप से स्वार्थान्ध पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर यह एक सर्वथा अभिनव प्रयोग था। ससार ने इस प्रयोग का फल देखा और चकित रह गया। भारत स्वयं यह देखकर चकित रह गया और जब तक वह इस चमत्कार की व्याख्या करे तब तक जो चमत्कार दिखाने वाला था, चला गया। वह चला तो गया लेकिन भारत के हाथ में एक मशाल छोड गया जिसके आलोक में युद्ध-त्रस्त विश्व का पथ आलोकित किया जा सकता था और जिसके प्रकाश में बैठकर बारूदों और बम्बों की अन्धेरी रात में भी मानवता का नया इतिहास लिखा जा सकता था । "गाँधी भारत के हाथो एक ऐसी कलम दे गया था जिसके द्वारा मानवीय सम्बन्धों की एक सर्वथा नवीन कविता लिखी जा सकती थी, इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह आवश्यक हो गया कि हमारा देश, उन पुरानी रूढ़ि-जर्जर मान्यताओं का त्याग करे जो आज तक हमारी हीनता की कहानी कहती रही थीं और उन नवीन मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा मे लगे जो उसे भौतिक ऐश्वर्य में नगण्य होने पर भी ससार के अन्य समृद्धिशाली

राष्ट्रो के बीच तनकर बैठने का गौरव प्रदान कर सके । फलस्वरूप देश में वादो की भीड सी लग गई । गाँधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, तन्त्रवाद, लोकतन्त्रवाद आदि अनेक वादो का एक मेला सा राजनीति के रगमञ्च पर जुडने लगा और उनके कोलाहल मे से भारत प्रयत्न करता रहा कि अपनी आत्मा की आवाज़ सुन सके । नेहरू के रूप मे भारत ने अपनी आत्मा को साकार पा लिया और राजनीति उसे लेकर जैसे धन्य हो गई । किन्तु साहित्य में नेहरू जैसा कोई सबल व्यक्तित्व नही था इसलिये वह वादो के तुमुल कोलाहल में ही खो गया । इन दस वर्षों में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, नकेनवाद आदि कितने ही वाद आये और थोडी-थोडी देर अपनी-अपनी झाँकी दिखाकर चले गये । पर नवीन भारत की नवीन आत्मा का जो सम्यक उद्घाटन कर उसे युग-युग की वाणी प्रदान कर सके—वह वाद अभी भी आविष्कृत नही हुआ है ।

इस समय एक अजीब-सी स्थिति है—नये के प्रति हम आकर्षित है पर वह हमारे सस्कारो से जुड नही पाता है, पर साथ ही पुराने का हमे मोह भी है किन्तु नये आदर्शों के चौखट में वह फिट नहीं हो पाता है । एक दुराहे पर हम दिशाभ्रमित से खडे है—एक पैर पूरब एक पैर पश्चिम—अजीब खीचतान है । पूर्व, हमें भारत की ओर--वाल्मीकि, तुलसी की ओर खीचता है और पश्चिम हमें इलियट और एज़रापाउँड की तरफ ले जाता है । शक्ति हममें इतनी है नही कि इस छीना-छीनी में हम अपने को बचाये रक्खें— चोट न लगने दे । इसलिए एक विघटन की अवस्था आ गई है । विघटन अनास्था का पिता है इसीलिये आज हमारे साहित्य में आस्था की खोज होने लगी है । क्या कविता, क्या उपन्यास, क्या कहानी—सब ओर आस्था की पुकार है । पहले जीवन की पुकार होती थी; पर अब यह आस्था की पुकार आ गई है । कल शायद कोई तीसरी भी पुकार सुनाई दे और परसो चौथी !

तो यह 'पुकारो' का, 'शोरो' का यानी 'नारो' का युग है, इसीलिए सगीत आज मरता जा रहा है और गीत—अपूजित—अनसुना होकर इधर-उधर भटक रहा है । लेकिन कुछ है जो फिर भी गाये जा रहे हैं, गायें जा रहे हैं और शायद यह उनका गाना ही हो जो बुद्धि की मरुस्थली नीरसता में भी सरसता का सचार कर रहा है और लोक-मानस मे कविता के प्रति प्रीति और प्यार बनाये हुए है ।

श्री हारीत जी भी हिन्दी के कुछ ऐसे ही अलमस्त गायको मे से हैं । प्रचार और विज्ञापन मे दूर वे केवल इसलिये गाये जा रहे है कि गाये बिना रह नही

सकते । मै मेरठ साल भर रह आया और मेरठ के ही एक गाँव मे हारीत जी रहते है पर न तो कभी इनसे परिचय ही हुआ और न पहले कही इनकी रचना ही पढी । आज जब सामने 'दमयन्ती' आई और वह भी महाकाव्य के रूप मे तो आश्चर्य हुआ । इस कवि को तो कभी जाना भी नही, कभी नाम भी नही सुना और फिर यकायक ग्रे की ये पक्तियाँ याद आ गई—

Full many a gem of purest ray Screne,
The Dark unfathomed caves of ocean bear,
Full many a flower is born to blush unseen
And waste its sweetness on the desert Air.

हारीत जी के बारे मे जब आगे और पूछताछ की तो पता चला कि छोटे-बडे सब मिलाकर वे अब तक १४ ग्रन्थ लिख चुके है, जो अभी अप्रकाशित है । तो हारीत जी अभी तक हम हिन्दी वालो के लिये पूर्ण अपरिचित है । अपरिचित वे इसलिए है कि न तो वे कभी कवि-सम्मेलनो मे कविता-पाठ करने गये और न किसी 'वादी-आचार्य' से दीक्षा लेकर वे उसके शिष्य बने । वादो की हवा से बिल्कुल अछूता—असपृक्त उनका व्यक्तित्व है और उसकी छाप उनकी रचनाओ पर भी सर्वत्र देखी जा सकती है ।

पाश्चात्य समीक्षको ने कविता के दो स्थूल भेद किये है—आत्मगत (Subjective) और वस्तुगत (Objective)। सुविधा के लिये यदि हम चाहे तो एक को आत्मानुभूति निरुपिणी और दूसरी को बाह्यार्थ निरुपिणी कह सकते है । गीत अथवा मुक्तक रचना प्रथम के अन्तर्गत आती है, और प्रबन्ध रचना दूसरी के अन्तर्गत समाविष्ट की जा सकती है । कविता के ये दोनो रूप प्रचलित है, पर वास्तव मे यह वर्गीकरण व्यवहारिक ही है, तात्विक नही क्योकि चाहे वह गीत रचना हो या प्रबन्ध रचना हो, अन्त मे दोनो आत्मानुभूति की ही अभिव्यक्तियाँ है । जब कवि का मानस चषक भाव के रस से इतना भर जाता है कि वह आसव उससे छलक छलक पडता है तब गीत का जन्म होता है लेकिन जब कवि की दृष्टि अपने 'रूप' से ऊपर उठकर लोक-मानस की भूमि पर 'पर' से तादात्मय का प्रयास करती है तब महाकाव्यो का जन्म होता है । एक मे अपनी रचना का लक्ष्य व्यक्ति स्वय होता है और दूसरी मे उसका लक्ष्य समाज और ससार होता है, इसीलिए जहाँ गीत मे तीव्र सवेदनशीलता होती है वहाँ प्रबन्ध काव्य मे एक विशद व्यापकता के दर्शन हमे होते है । गीत व्यक्तिपरक अधिक है इसीलिए सस्कृतियो और सभ्यताओ के निर्माण और विकास मे उसका योगदान उतना नही रहा है कि

जितना महाकाव्यो का । विश्व-साहित्य मे सदियो से जिन्हे ससार का आदर प्राप्त होता रहा है और जिन्हे वरिष्ट साहित्य (Classic) की सज्ञा प्राप्त हुई है, वे अधिकाश प्रबन्ध रूप मे ही है। प्रबन्ध काव्यो मे विशद वर्णन द्वारा सामाजिक जीवन की जो विशाल योजना प्रस्तुत की जाती है, उस की विशालता व्यापकता का बडा ही स्थायी एवम् विशद प्रभाव लोक-मानस पर पडता है। परन्तु महाकाव्य की महान योजना का अर्थभार अपनी लेखनी के कधे पर साधना बडा दुष्कर होता है। उसके लिए एक स्पष्ट जीवन-दर्शन, सूक्ष्म ज्ञान दृष्टि, अनुभूतियो की एकतानता, भावना, बुद्धि और कल्पना का समीचीन सन्तुलन आवश्यक होता है। इसके बिना न तो घटना-चक्र को ही वह क्रमबद्ध रख सकता है, और न ही वह घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द द्वारा चरित्र-निर्माण में सफल होता है। महाकाव्य के भीतर अनेक रगो का ताना-बाना इतना विराट और विशाल हो जाता है कि प्रतिक्षण बिना सजग रहे उसे सभालना कठिन हो जाता है। यह समस्त कार्य बडे परिश्रम, अध्यवसाय एवम् जागरूकता की अपेक्षा रखता है। गीत मे अनुभूति खड खड होकर ही अपनी अभिव्यक्ति करती है किन्तु महाकाव्य मे चेतना एक कथा में गुंथकर अखंड हो जाती है, इसलिए महाकाव्य का रसास्वादन भी उसके पूरे प्रभाव से ही किया जाना चाहिए।

कहना नही होगा कि हारीत जी की प्रस्तुत कृति उपरोक्त सभी बातो को पूरा करती है। उसमें एक सुसम्बद्ध लोक विश्रुत नल-दमयन्ती की प्रेम-कथा के साथ-साथ, अनुभूति की एकतानता, एक स्पष्ट जीवन-दर्शन, सफल प्रकृति चित्रण, अत्यन्त प्राजल एवम् परिष्कृत भाषा, एवम् तटस्थ चरित्राकन के दर्शन होते है। भाषा पर तो कवि का ऐसा पूर्णाधिकार है कि वह उसे जब जिस रूप मे चाहे वैसा मोड लेता है। प्रकृति-चित्रण मे उनकी भाषा सगीतात्मक और कोमल हो जाती है, सवादो मे तिक्त एवम प्रभावपूर्ण दिखाई देने लगती है, और तथ्यवर्णन में सहज, मन्थर गज-गामिनी। नीचे के तीनो उदाहरण मेरी बात की पुष्टि करेंगे—

प्रकृति-चित्रण—

मल्लिका, यह माधवी, चम्पा कहीं,
यूथिका, वासन्तिका, कुब्जक यहीं।
बाँटता यह, इधर गन्ध कदम्ब है,
पर, न दृग्गोचर कहीं कटु निम्ब है।

स्वर्ण-जाति, सुवार्षिकी, मडक खडे,
माधवी युत कर्णिकार, मुदित बडे ।

अथवा

चल पडी रात नभ वदन हुआ पीला-सा,
पृथ्वी अचल पट हरित हुआ गीला-सा ।
वह सु-अभिसारिका गई चिन्ह ये छोडे,
हत प्रभ से तारे उसे पकडने दौडे ।
मूर्च्छित-सा विधु हो गया न यह सह पाया,
आ पहुँचा मन्द समीर देख मुस्काया ।
वह व्यजन डुलाने लगा गन्ध से सीचा,
हो विवश तिमिर ने हाथ धरा से खीचा ।

सवाद—

केशिनी ! न है यह बात, तुम्हे क्या सूझा,
पौरुष का कुछ भद्रत्व न समझा-बूझा ।
रजनी भर मुँदता कभी अली, फूलो मे,
बिध जाता कभी निरीह, अली ! शूलो मे ।
अपने प्राणो पर खेल, लता को पाता,
करता है इसको मुग्ध गीत मधु गाता ।
पाकर अलि का सर्वस्व, स्वरस ये देती,
यह क्या देना जो मात्र परस ये देतीं ।

मुद्रा-चित्रण—

छू रहे है कृष्ण-दृग युग-कण को,
वर्ण लज्जित कर रहा है स्वर्ण को ।
नाक-शुक सी, वदन-मध्य रदावली,
भर रही ज्यो शुक्ति मे मुक्तावली ।
चिबुक परम मनोज्ञ, विस्तृत भाल है,
अक्षियो पर, पक्ष्म का घन-जाल है ।

यह सत्य है कि नयी कविता के नये शिल्प-प्रयोगो एवम् प्रतीक-विधानो से हारीत जी की कला सर्वथा अछूती है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि नवयुग में नये प्रश्नो ने भी उन्हे नही छुआ है । नवीन काव्यगत मान्यताओ को अस्वीकार करके भी वे नवयुग की प्रमुख-प्रमुख समस्याओ से पूर्ण परिचित है और स्थान-स्थान पर इस प्रबन्ध मे उनकी समुचित अभिव्यक्ति हुई है ।

यद्यपि साम्यवाद, समाजवाद, सभी की यत्किंचित अनुगूंज उनकी कृति मे है, फिर भी गाँधीवादी-विचारधारा विशेष रूप से अहिंसा, सहकारिता, अस्पृश्यता और मानववाद का प्रभाव उन पर विशेष रूप से है, और वही वस्तुत इस प्रबन्ध-काव्य की दर्शन-भित्ति है। घटना क्रम मे आये हुए विविध कार्य कलापो के बीच उन्होंने नारी-स्वातन्त्र्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, श्रम-पूजा और मानव-गौरव मे भी अपनी आस्था प्रकट की है। देवताओं मे छल की बात तो स्वयवर सभा मे बडे ही सुन्दर शब्दो मे दमयन्ती द्वारा इस प्रकार कही गई है—

रे पातकी! देवी अहल्या सी तुम्ही ने भ्रष्ट की,
कितनी न जाने साध्वियों की साधुता है नष्ट की।
कब देखकर सौन्दर्य तुम निज पर नियन्त्रण रख सके
है खेद अब तक भी न जो तुम हाय! छल पथ से थके।
ठग कर निरीह दधीचि को फिर भी नहीं लज्जित हुए,
जो आज भोली बालिका छलनार्थ यो सज्जित हुए।
साक्षी तुम्हारी दे रहे शतनेत्र ये उस रात की,
फिर भी न अपनी प्रकृति तुम हा तज सके उत्पात की।

प्रेम और अहिंसा की बात नल द्वारा इस प्रकार—

यह न प्राण का दान भद्र! यह मानवता है,
हिंसा से परिपूर्ण भाव भी दानवता है।

और निम्नलिखित पंक्तियों में नारी-गौरव की बात नल द्वारा इस प्रकार कही गई है—

बोले—यह नारीत्व अबलता स्रोत नहीं है,
कान्तिमान नारीत्व-तुल्य हिम धौत नहीं है।
दीन हीन तुम कहाँ! प्रतीक तुम्ही हो बल का,
तुम्ही निवारण-मात्र देवि! सशय का छल का।
विधि की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि पुरुषत्व यहाँ है।
उसी सृष्टि पर पूर्णविजय नारीत्व रहा है,
अबला हो तुम किन्तु विपद में बल हो तुम ही,
विश्व मरुस्थल है यह इसमें जल हो तुम ही।

और पति-परायणा निद्रा-निमग्न दमयन्ती को मध्य रात्रि में निर्जन वन में तरु के तले छोड़कर जाते हुए नल के हृदय मे जो अन्तर्द्वन्द हो रहा है, उसका चित्रण बड़े ही मर्म-स्पर्शी एव हृदयग्राही शब्दो में कवि ने किया है। केवल विस्तार भय से मैं यहाँ पर उसके उद्धरण नही दे रहा हूँ। इसके अतिरिक्त

कवि ने कथा के बीच-बीच में नवीन पात्रो और परिस्थितियो की भी उद्भावना की है, जिसके कारण कथा का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है। इस दृष्टि से पूरा का पूरा दशम सर्ग दर्शनीय है।

कवि की यह प्रथम कृति है। किन्तु यह प्रथम कृति ही इतनी सुन्दर और सहज है कि कवि के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक दृढ आस्था होती है। आजकल गीतो का मौसम है, और इस ऋतु में ही सब बहे जा रहे हैं। कवि ने चलती हुई हवा को पीठ देकर पहले ही आलाप मे जो भारती की वीणा पर यह महाकाव्य छेडा है वह उसके उद्दाम साहस और प्रचुर काव्य-प्रतिभा का द्योतक है। महाकाव्य के नियमो पर यह कृति कहाँ तक खरी-खोटी उतरेगी यह निर्णय तो सुधी आलोचक ही करेगे। किन्तु यह मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अपने भाषा-सौष्ठव, पद-लालित्य, दृश्य-योजना, वर्णन-विधान, चित्राकन, अलकार-शिल्प, नाटकीय वाग्वैदग्ध्य एवम् मर्मस्पर्शी भाव-सयोजन के कारण यह एक सुन्दर सम्पन्न कृति है, और अवश्य ही साहित्य मे यह एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।

द्वारिकापुरी
अलीगढ़

'नीरज'

दो शब्द

एक नही अनेको चतुरतम-चञ्चरीक पी चुके सौरभ वह, गा चुके उसके गुण, आज भी अलिगण पीते है, अघाते फिर भी नही, अनन्त वह सौरभ है, अनन्त वह मकरन्द है, खीचता है बरबस मन को अपनी ओर !

मधुमय सौरभ का लोलुप-रसिक मन खिच ही जाता है, बँध ही जाता है, विवश जा फँसता है, उनमे, जो चारो ओर फैली है रश्मियाँ अतीत के सौरभ की, मधुर मकरन्द की, और वे भरे हुए अमिट रङ्गीनियाँ, उर पर मले हुए रेशम की फिसलन, सन्ध्या का अनुराग, चिपके है कितने पख-कोमल-आदर्श की मनमोहक मधुर तितलियो के उस मकरन्द मे !

'दमयन्ती' मे उस ही चिरन्तन सौरभ का शायद कुछ अश हो, अमर मकरन्द का शायद कोई कण हो !

मैने, चिर-श्रम से सञ्चित किया है जिसे ! उसमे यदि मधु है, सुवास है किञ्चित भी, निश्चित ही इसका श्रेय उन्हे दूँगा मै, जिनकी पद-चाप सुनकर मै बढ सका इस दुर्गम पथ पर, जिनका पद-न्यास सतत आमन्त्रित करता रहा है मुझे, उन अनुकरणीय श्री प्रभुदत्त जी स्वामी शास्त्री को और उन महाभाग राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त को जिनके मधु-रस-सिक्त सत्काव्यों के आस्वाद से मेरा अकिञ्चन मन प्रेरित हुआ इस ओर !

यदि सौरभ के कम अश मे, मकरन्द के इस कण से, सहृदय पाठकों का अनुरञ्जित हुआ तनिक भी मन, तो परम सन्तोष का अनुभव होगा मेरे मन को, और मै अपने श्रम को समझूँगा सफल।

ग्राम शिवाया
पो० दौराला (मेरठ)
शिव रात्रि श्रावण
स० २०१३ वि०

ताराचन्द्र हारीत

आदरणीया

स्नेहमयी जननी के करकमलों में

श्रद्धा के ये संचित-कण

सादर-समर्पित

अम्ब ! बहातीं जो-तुम नित नित—
विमल-स्नेह-का सिन्धु !
उससे-ही ले, तुम्हे-समर्पित—
ये, केवल दो बिन्दु !

सर्ग सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१९	सोचना	सौपना
२२	२६	व	वर
३४	१९	मैं	०
३५	१३	भरोखों	झरोखो
३८	१७	हे	सह
४५	२५	छिन्न	भिन्न
४५	२६	द्विन्न	छिन्न
४७	९	ही	हो
५१	२१	"	०
१११	२०	मैं	में
११५	११	नल का	नर का
१३७	७	सोत	स्रोत
१६१	२८	का	को
२१४	७	हा	ही
२१७	३	पडेग	पडेगा
२२५	१२	घुनता	धुनता
२३५	३	वीरसैनि	वैरसेनि
२४२	२८	मञ्जन	मज्जन
२७३	१९ व २०	है	० ०
२७६	१०	सुखकर	सूख कर

दमयन्ती

प्रथम सर्ग

धन्य, धन्य, हे अम्ब ! भरत-भू तुम हो धन्या,
है, माँ ! तुमसी नही विश्व-मे कोई अन्या,
मुकुट तुम्हारा हिमगिरि-से शोभित होता है,
पाद तुम्हारे स्वय, अम्ब ! अम्बुधि धोता है,
गगा, यमुना, तुम्हे सस्य श्यामलता देती,
कोटि, कोटि, की तरणि, सदा माँ ! हो तुम खेती,
नर रत्नो से सकल-विश्व, छाया माँ ! तुमने,
इसीलिए वसुमती नाम, पाया माँ तुमने,
दिया तुम्ही ने जन्म, बली, ज्ञानी मानी को,
किया तुम्ही ने चूर, क्रूर-खल अभिमानी को,
तव-पुत्रो ने सकल विश्व-को पाठ पढाया,
गर्त्त-पतित जो-रहे, उठाकर उन्हे बढाया,
कम्पित होता गगन, कि जिनकी हुँकारो-से,
निशिचर थे निष्प्राण, धनुष की टकारो से,
अम्ब ! "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" ध्येय यही था,
एको अपि सत बहुधा जिनका ज्ञेय यही था,
आध्यात्मिकता को तुमने ही पाला पोसा,
सत्य शिव सुन्दर का तुम, रही भरोसा,
चलता है पर, द्वन्द-चक्र, यह नियति नियम है,
होता सुख परिपूर्ण, जब-कि तब दुख का क्रम है,

पर-बन्धन-आबद्ध अरी-माँ ! तुमने होकर,
काटा कितना काल, बना जैसे रो-धोकर,
प्रगटी किन्तु विभूति, तुम्ही-से वह कल्याणी,
थी कण-कण मे व्याप्त हुई जिसकी शुभ-वाणी,
सुन, हम-दे हुँकार, त्वरित सोते-से जागे,
देखेगा अब व्योम, कि हम है सब-से आगे,
विवश विश्व बढ रहा, अन्ध-सा हो दुष्पथ पर,
चलेगे न हम भूल, एक पद भी उस पथ पर,
मार्ग-प्रदर्शन करे, किरण आशा की बनकर,
झेले, हम दुख स्वय, दूसरो के तन तनकर,
कर भव-सकट दूर शान्ति के दूत बनेगे,
भ्रान्ति निवारण-हेतु देश मे क्रान्ति जनेगे,
हम होंगे, जिस ठौर, वहाँ अन्याय न होगा,
पर-शोषण-हित कुटिल चक्र दुरुपाय न होगा,
कही, विश्व-मे मनुज, मनुज का दास न होगा,
रचने को साम्राज्यवाद, अभ्यास न होगा,
दुर्बल जन का, सबल-हेतु, आयास न होगा,
भूख-प्यास-से कोई, कही, उदास न होगा,
कही, स्वार्थ से, सत्कर्मो-का ह्रास न होगा,
रक्त-तृषा के शमन-हेतु, दुर्नाश न होगा,
आक्रन्दन, आक्रोश, नही, अब ठहर सकेगे,
आधि-व्याधि, के मेघ नही, अब घहर सकेगे,
हम कण्टक बन, कभी न, अटके, पर-हित जग-मे,
और अटकने नही, अन्य-को दें निज-मग-मे,
कृष्ण-श्वेत का कही, जगत-मे भेद न होगा,
लौटाने-मे अन्य-वस्तु, कुछ खेद न होगा,
अरी, जननि ! तव रोम, रोम, भी रक्षित-होगा,
स्वार्थ-ग्रसित कुछ कार्य, न अपना लक्षित होगा,

तापित-तल पर सुधा-शान्ति हम, बरसायेंगे,
हमको निकट विलोक, दुखी-जन हरसायेंगे,
शपथ ! शपथ ! माँ शपथ, तुम्हारे इन चरणो की,
धर-कर शिर पर धूल, सु-पावन अघ-हरणो की,
समझ सौख्य को पाप, पुन-र्निर्माण करेंगे,
रीते-तेरे कोष, जिन्हे हम शीघ्र भरेंगे,
कार्य-सिद्धि के लिए, न हम, पर-मुख ताकेंगे,
जितना हो सुख दु ख, उसे उतना आँकेंगे,
निज कार्यो-मे, धीर, वीरता-लिये जुटेंगे,
रोक-सकेगा कौन ! तीर-से जिधर छुटेंगे,
अटकेंगे यदि विघ्न, हमारे पथ-मे आकर,
होगे चकनाचूर हमारी ठोकर खाकर,
हो सकट-से ग्रस्त, न हम कुछ भय-खायेंगे,
सुने, सुजन-आख्यान, कि जिससे जय-पायेंगे,
सदा सर्वदा, यशस्कथा हम क्यो ! भूलेंगे,
हो न दु ख-मे दुखी, न हम सुख मे फ़ूलेंगे,
गिर जाता है मनुज विपद-के नद-मे बहकर,
बन-जाता है ज्योति, वही कष्टो को सहकर,
नर-का रिपु अभिमान, अन्य-रिपु कातरता है,
सबल हृदय तब कहाँ, जहाँ-पर आतुरता है,
अपने-से भी अधिक - सुखी-को सुख-मे देखे,
अपने-से भी अधिक, दुखी-को दुख-मे लेखे,
तो, जन फिर न अधीर रहे, अभिमान न होगा,
और, दीनता तथा महत-का, ध्यान न होगा,
सुख-दुख पूर्णाख्यान, सजोये यो-ही जाते,
दु ख-ग्रसित जन सदा, उन्ही-से सबल पाते,
धन्य ! महाकवि व्यास ! प्रणति तुमको शत-शत है,
धन्य लेखनी मुने ! तुम्हारी विश्वाहृत है,

भर, अपूर्व भण्डार, भारती-माँ-का तुमने,
पाया, अतुलित-प्यार, भारती-माँ-का तुमने,
गूंज रही सर्वत्र, सुधा-सिञ्चित तव वाणी,
करे प्रमाणित कौन ! कि वह कितनी कल्याणी,
है मुझमे सामर्थ्य कहाँ ! कुछ-भी कहने की,
खेद ! किन्तु है शक्ति न जो चुप भी रहने की,

कुटिल-चक्र मे जब कुरुपति ने पाण्डव फाँसे,
इन्द्रप्रस्थ से बुला, खिलाये-उनको पासे,
था, दुष्कारण हुआ, वही भारत-क्रीडा का,
मिला, धर्म-को कुफल, द्यूत की दुष्क्रीडा का,
भरी-सभा-में गई बुलाई फिर पाञ्चाली,
घहरी, दुख की घटा, गगन-में घिर घिर काली,
पा, कुरुपति-आदेश, गये-फिर पाण्डव, वन में,
अह ! भारत-सम्राट, बने-याचक-से क्षण-मे,
दुख-मे देती छोड, चिह्न कैसे, सतियो-के,
अत. द्रौपदी सग-गई अपने पतियो-के,
था नूतन अभ्यास, विपिन की भारी बाधा,
जैसे, तैसे, बना धर्म ने निज-को साधा,
पर, अनुजो-को देख, व्यथित ही थे वे रहते,
सुनते, विविधाख्यान वहाँ, ऋषि, मुनि जो कहते,
भोजन था, फल-कन्द, भूमि-पर ही सो जाना,
फटे-पुराने वस्त्र, और दारुण दुख-नाना,
सुनकर, ये सब दु ख, युधिष्ठिर-सौम्य, अतुल-के,
पहुँच, गये बृहदश्व पुरोहित-पाण्डव-कुल के,
पा नृप-से सत्कार, सुनायी बहुत कथायें,
सुन समयोचित वचन, विगत कुछ हुईं, व्यथायें,

धर्मराज ने कहा—हाय ! मेरे ही कारण,
दासी-का - सा, वेश, द्रौपदी करती धारण,
और अनुज ! दस दिशा, जिन्होने बल-से जीती,
भीम, पार्थ, सहदेव, नकुल, पर यह क्या-बीती,
व्याकुल नृप-को देख पुरोहित बोले-ऐसे,
होते कही, अधीर भला ज्ञानी, तुम जैसे,
जब, हम सब-से भिन्न, स्वय-को जग-मे पाते,
दैन्य, अहम्-के भाव, तभी घिर-घिर, कर आते,
अति-विपन्न-को देख, करो ! अपना दुख-धीमा,
भूप ! विश्व-मे कही न है, दुख - सुख-की सीमा,

"किन्तु देव ! दुर्दैव-ग्रस्त, क्या-मुझसा-पापी—
रहा, विश्व-मे कही अभागा—विषम-वितापी"

"भूप ! विश्व-मे नही, तुम्हारे इसी देश-मे,
तुमसे ही सम्राट, रहे-जो इसी वेश मे,
विधु-वशी नलराज, भाग्य-के खाकर झटके,
वर्ष-चतुर्दश, इसी भाँति वन, वन-मे भटके"

"इनसे तो नल हुए, रही मुझसी क्या-कोई,
हाय ! अभागी कही, द्रौपदी कहकर रोई"

"भद्रे ! तुमसे अधिक दुखी देवी दमयन्ती,
मारी, मारी फिरी, विपद-ग्रस्ता गुणवन्ती,

किन्तु, विपद-भय जनित दुखो-मे मार्ग न छोडा,
जो भी प्रण कर-लिया, न फिर उससे मुँह मोडा,
जिज्ञासा जब और बढी, देखी कृष्णा-की,
पूर्ण सुनाई कथा विगत-जिसमे तृष्णा की,
सुनकर यह आख्यान, हुआ उनका मन हलका,
समझा, अपने से भी अति-दुख नृप-ने नल-का,
उसी कथा-को आज यहाँ मै, चला सुनाने,
करने जिह्वा पूत, और मन-मे सुख पाने,
विज्ञ-जनो के बचन ग्रहण कर जहाँ-तहाँ-से,
गूँथ-दिये ये सुमन, लिये जो-मिले, जहाँ से,
यद्यपि ये निर्गन्ध-हुए, मेरे छूने-से,
किन्तु, हुए जो मनुज, विपद मे पड ऊने-से,
पढकर यह आख्यान, अभाव-भरे, यदि उनका,
हूँगा-मैं, कृतकृत्य, दुखौघ हरे यदि उनका,
दो पद भी दे-सके, विपद-मे कही सहारा,
तो-समझूँगा तभी सफल, श्रम-अपना सारा,

दुखद-दिन वे, शीत-के अब गत-हुए,
जी उठे-से, वृक्ष, जो-थे हत-हुए,
आ-गया, ऋतुराज, अब सर्वत्र है,
छा-गया, सुख साज, अब सर्वत्र है,
शीत-हत, तरु-पत्र जो थे छुट-गये,
सुखद शाखी हाय! जो थे लुट-गये,
कोपलें उनमें निकलने, अब लगीं,
सुप्त-सी वह शक्ति, उन सब की जगी,
विविध-विधि, नव-दल, सभी धारण-किये,
वेश हैं ये सब, असाधारण - किये,

मुस्करा, पुष्पो-सहित कैसे - रहे,
सौख्य इनका, आज कोई क्या - कहे,
वे चली, उस-ओर, खिलने को कली,
ये इधर वल्ली, सुसज्जित है भली,
साज-धारे सुखद, उत्सुक हो-रही,
आज सब मालिन्य, अपना खो-रही,
ज्यो, वियोगिन, प्रियतमागम सुन अहा,
हो सुसज्जित और मुद-पाती महा,
ये इधर वञ्जुल, अशोक उधर-खडे,
नाम-के अनुरूप ही, हर्षित बडे,
वे-लताएँ, वेष्ठिता कर, वक्ष-से,
है रसाल खडे-हुए, वर कक्ष-से
प्राप्त रात सुहाग-सी, रस-लूटते,
प्रेम-के बन्धन सुदृढ, कब ! टूटते,
छू-रहे, उस-ओर नभ को ताड है,
या-स्वय ये, नील-नभ-की आड है,
इधर शतपत्री - कदलियो - से घिरी,
लग-रही, मानो, घटा विधु-पर फिरी,
केतु-सा लहरा-रहा है केतकी,
बाढ, रक्षक-सी खडी है वेत-की,
मल्लिका, यह माधवी चम्पा, कही,
यूथिका, वासन्तिका, कुब्जक यही,
बाटता यह, इधर गन्ध कदम्ब है,
पर, न दृग्गोचर कही कटु-निम्ब है,
स्वर्ण-जाति, सुबार्षिकी, मण्डक खडे,
माधवी-युत, कर्णिकार, मुदित - बडे,
विविध-तरु परिपूर्ण, सुन्दर-स्थान है,
क्यो न होता, जब - कि राजोद्यान है,

पुष्प, फल, वर-वृक्ष, जितने हैं यहाँ,
दृष्टि-पथ अन्यत्र, आयेंगे कहाँ,
क्यारियाँ मेढो-सहित जो तन-रही,
और भी, नव-नव-कुसुम, वे जन-रहीं,

विविध-कुल्या मध्य, इनके बह-रही,
सीचकर उद्यान को जो-रह रही,
बीच - में वह, एक सर सु-विशाल है,
तन-रहा, इन्दीवरो - का जाल - है,
नील-नीरज है कही, है सित कही,
कुमुदिनी है मुद - भरी शोभित यही,
पकजों-से झड - रहा, मकरन्द है,
पान जिसका, कर-रहा अलि वृन्द है,
चतुर्दिक सोपान, सर-के अड-रहे,
अश्म है, बहु-मूल्य जिन-पर जड रहे.
यत्र - तत्र, सुमच, विश्रामार्थ हैं,
बैठते, जिनपर मनुष्य श्रमार्त्त है,
बैठकर, रथ-पर दिवाकर आ-गये,
कर-निकर, सर्वत्र जिनके छा-गये,
खिल-उठे उत्पल, अतः पल - मे सभी,
अनिल-प्रेरित ऊर्मि, आती है कभी,
ओस के वे बिन्दु, पत्रो-पर पडे,
हार-मे, मानो-कि मुक्ता हैं जडे,
मुदित-पिक-का छिड़-गया, वह गान है,
दे-रही, विहगावली, यह तान है,
हस-गण, मधु-गान करता आ गया,
वह जिसे निज प्राप्य, प्रिय-सर पा गया,

कर-रहे, कल-केलि, थल-जलचर सभी,
आ-रहे, चलकर इधर कुछ है अभी,
क्या-हुआ ! यह-सब जमा-है रंग - क्यों ?
दीख - पडती, प्रकृति-भी स - उमङ्ग यों,
दे-रही किस भव्य को, सत्कार—यह,
और ! स्वागत-का, उचित आचार—यह,

निकल कर उस ओर ! पुष्प निकुञ्ज-से,
परम-सुन्दरता-भरे, उस पुञ्ज - से,
आ-रही, इस ओर, जो बाला चली,
सज गई, इस हेतु, सब रंगस्थली,
ये, सभी सज्जित, मनोहर-वेश से,
है सु-शोभित, स्कन्ध सब-के केश से,
लग-रहा, ज्यों स्वर्ग - को तजकर कहीं,
देव-बाला, भूल, आ-भटकी यहीं,
मध्य इनके आ-रही, जो सुन्दरी,
है यही सविशेष सब-से द्युति-भरी,
हरित-पट शोभा बढाते गात्र - की,
उचित भूषा - भी यही, इस पात्र - की,
केश बढकर स्पर्श, कटि-का कर-रहे,
पंकजों के-दर्प को, दृग हर-रहे,
छू-रहे है कृष्ण-दृग युग-कर्ण को,
वर्ण—लज्जित कर-रहा है स्वर्ण—को,
नाक, शुक-सी, वदन-मध्य रदावली,
भर-रही ज्यों शुक्ति-मे मुक्तावली,
चिबुक परम-मनोज्ञ, विस्तृत भाल है,
अक्षियों-पर, पक्ष्म-का घन जाल है,

पूर्ण-मुख, पूर्णेन्दु-सा, लगता अहा,
है सुधा-सौंदर्य, जो बरसा-रहा,
सु - नख - रञ्जित - अगुली - युत हाथ-ये,
धाम शोभा-के बने युग साथ ये,
भाग, कटि-का, वक्ष-ने है ले-लिया,
या-सु-कटि ने, अधिक जान स्वय दिया,
हो गया, उरु-युग्म भी सु-विशाल है,
विजित जिससे हस्तिनी की चाल है,
ऊन-षोडश वर्ष-मे इसने अभी,
पद-दिया, यो-ढग बदला है सभी,
हाथ - इसका सौंपकर तारुण्य को,
बालपन सहसा गया है लुप्त-हो
गत - हुआ चाञ्चल्य, लज्जा आ - गई,
साथ - मे गाम्भीर्य - को भी पा - गई,
और - भी साध्वी-सुलभ गुण आ - भरे,
छू-न पाया कुछ इसे, अवगुण अरे।
पा—समय अवकाश-का विधि ने अहा!
यह-रची, सौन्दर्य-की, प्रतिमा महा,
साथ जिसके, सज्जिता-परिचारिका,
कौन है! यह कान्त-देह-कुमारिका!
दमन इसने सुन्दरी-गण-मद किया,
नाम 'दमयन्ती' उचित ही-तो दिया,
विदर्भाधिप-जो नृपति-वर भीम हैं,
सकल-गुण जिनमे, भरे निस्सीम हैं,
है उन्हीं-की आत्मजा, यह - सुन्दरी,
स्वर्ग-देवी आ-गई, बनकर नरी,
नभस्पर्शी सदन जो सम्मुख खड़ा,
मूर्त्त मानो, सुयश राजा का बड़ा,

निकल कर उससे इधर यह आ - गई,
साथ - अपने सहचरी लेकर कई,
उपवनाभा की स्वय अभिवृद्धि कर,
जा-रहा अवलोकता शोभा-निकर,
हाथ मे विकसित कुसुम लेकर कई,
अब सरोवर सन्निकट, सब आ गई,
फिर मुदित वे स्नान-हित प्रस्तुत हुई,
कलित जल-क्रीडार्थ सब उद्यत हुई,
उतर वे जल - में पडी, सर हँस - पडा,
स्वयं - बनकर धाम, शोभा का बडा,
पकडकर नलिनी, कही नल - वेलि को,
वे लगी करने सभी, कल-केलि को,
सलिल उनका, देह - मल धोने - लगा,
या - स्वय ही, स्वच्छ - जल होने - लगा,
अग-राग, शरीर - से धुलने - लगे,
कर, विचित्रित सलिल - को घुलने - लगे,
दीप्त उनके स्वर्ण-तन होने - लगे,
और क्रीडा - श्रान्त, मन होने - लगे,
होड़ - से वे, तैरने जल - मे लगी,
सुप्त-सी तब ज्योति, सर की जगमगी,
देखकर प्रतिबिम्ब निज जल - मे कही,
मुग्ध - हो कोई, उसे - लखती रही,
हस भी निज कलित-क्रीडा छोडकर,
देखने उनको लगे मुँह मोड़कर,
रह गये, अरविन्द - भी लज्जित खड़े,
नेत्र उनके देख अपने से बड़े,
पूर्ण कर मज्जन, कमल-बहु तोड़कर,
हो गईं बाहर सभी, सर छोड़कर,

बदल कर परिधान, मञ्चासीन था,
देख उनको, स्वय सुषमा हीन थी,

बाल, काले-व्याल से फटकार कर,
नेत्रहर परिधान, तन पर धारकर,
नाम के अनुरूप, मञ्जुल-वेशिनी,
कह उठी, मधु - वचन आली-केशिनी,
आलियो । प्रस्ताव मेरा है अभी,
पुष्प आभूषण रचे, आओ । सभी,
फिर कुमारी को उन्हे पहनायँगी,
स्वर्ग - का यो - सुमन, भू - पर लायँगी,
देखना । फिर अमरपुर से सुर-सभी,
दर्शनोत्सुक आयँगे इसके अभी,
विश्व - मे ऐसी अहा, फिर सुन्दरी,
खोजने से भी न पाये द्युतिभरी,
शत-गुणित हो जायगी यह रूप - सी,
स्वर्ण - मे, शुचि-वास मानो, आ - बसी,
मुस्कराकर कुटिल-भ्रू-धनु तानकर,
केशिनी - को लक्ष्य अपना मानकर,
भीमजा रोके उधर जब तक कही,
इधर पारित हो गया प्रस्ताव ही,
कुसुम गण - पर चल पडी कुसमाङ्गुली,
अब लगी माला बनाने वे भली,
भीमजा साग्रह अहा, लाई गई,
घास पर ही विवश बैठाई गई,
डाल ही तो दी, गले - मे स्रज - अहा,
कर, उरोज-स्पर्श, पुष्प हँसे-महा,

नत-नयन, शुचि-वदन उसको हेरकर,
मुदित आली जाल मे अह ! घेर कर,
दिव्य मञ्जुल साज - से, सज्जित किया,
तब स्वयं - रति - को अहा ! लज्जित किया,
गॅुथ गये जब - कुसुम वेणी-पाश मे,
छिटक-से तारे गये आकाश - मे,
अर्कजा दीपावली से सोहती,
जगमगाती ज्योति, मन को मोहती,
शान्त विष यह विषधरो का हो गया,
निशा का बीहड तिमिर भी खो गया,
कर्ण युग मे झूमके, झूमे भले,
साथ ग्रीवा के स्वय ही जो चले,
ढक लिया यौवन गले - के हार ने,
की सुशोभित आह, वीणा तार ने,
तनिक पहले पुष्प जो उद्विग्न थे,
लता से अपनी हुए वे भिन्न थे,
मुस्कराते थे वही अब हर्ष से,
सुख नही मिलता किसे ! उत्कर्ष से,
काष्ठ की वे सब लता थी कण्टकित,
अब मिली थी हेम की कॉटो-रहित,
ककणो से कर युगल बोझिल हुए,
कमल थे शैवाल से ओझिल हुए,
क्षीणता की ओर को जो थी झुकी,
कटि वही अब करधनी से बॅध, रुकी,

सज गई आपाद अब नृप नन्दिनी,
धार कुसुमाभरण बन-देवी बनी,

हो गई अब द्विगुण, वासन्ती - छटा,
मोद - भर आने लगी, अलि - गण-घटा,
आलियाँ उनको लगी तब वार ने,
पर विवश अलि - गण किया था प्यार ने,
ज्योति उसकी देखकर सुषमामयी,
ध्यान होता सज्जिता रति आ गई,

केशिनी बोली - कि, देखो इन्दु - को,
लहरते सौन्दर्य के इस सिन्धु - को,
अरुणिमा - से पूर्ण लोल - कपोल ये,
हैं रचे, विधि ने स्वय रस घोल ये,

भाग्यशाली कौन ! वह होगा अरे !
मनुज ही जो, सुर - सुधा सेवन करे,
पर न, यह मानव, अमर - का भोग्य है,
मनुज कोई - भी न, इसके योग्य है,
रत्न जब यह, विश्व - को विधि - ने दिया,
तो न, इसके योग्य, क्यो मानव किया,
वार देता, प्राण - जो इस - पर यही,
गर्व करता, भाग्य - पर, जानो सही !
चूमता-आनन, गुराई - से भरा,
स्वर्ग - से, सविशेष होती यह धरा,
दूसरी सखि - बात यों कहने - लगी,
केशिनी ! किस ओर तुम बहने लगी,
सोचकर तुमने कहा कुछ - भी नहीं,
क्या - न इसके योग्य - नर कोई कहीं,

है यथा अपनी सखी, वर-रूपिणी,
सुने है—त्यो - रूप - के, नल - भी धनी,
अहा - सखि ! उनसे अगर सम्बन्ध हो,
तो - अवश्य सुवर्ण - मे सद्गन्ध - हो,
जा - मिले, जल-वाहिनी-सी सिन्धु - से
चाँदनी-सी शुभ्र, मोहक इन्दु - से,
उधर - हो नलराज भी कृतकृत्य तो,
और, जायेगे इसी - के भृत्य हो,
समझ लो, इच्छा कुमारी की यही,
किन्तु, श्री-मुख - से कहेगी ये - नही,
खीझकर, नृप-नन्दिनी ने, बढ - तभी,
क्रोध - का आवरण-सा, मढकर सभी,
कर बढा—चाहा - कि मै, पकडूँ इसे,
धृष्टता - का दण्ड - दूँ, जकडूँ इसे,
हट - गई, वह दूर, किन्तु सुहासिनी,
रह गई, नृप-सुता, विफलायासनी,
विविध बाते, फिर वहाँ - चलने लगी,
किन्तु, वह हृत्ताप - से, जलने - लगी,
थी प्रथम - भी बात यह, उसने सुनी,
परम सुन्दर नल, कि - है अति ही गुणी,
कर्ण-युग मे, वाक्य यह गूँजा - किया,
समझने जिसने न, कुछ उसको दिया,
"अहा - सखि ! उनसे अगर सम्बन्ध हो,
तो, अवश्य सुवर्ण - मे, सद्गन्ध हो"
हो मुझे वे, प्राप्त अब किस रीति से,
फल निकलता कुछ न, अदृष्ट प्रीति से,
भेट यदि उनसे कही होती अहा !
तो, कठिनता फिर न यह आती महा,

किन्तु, मुझको, वे न यदि स्वीकृत करे,
हो दयालु, न वेदना मेरी हरें,
तो, चरण मै, पकड़ - लूगी दौड़कर,
प्रार्थना, सविनय करूँ, कर-जोड़कर,
पर, न मुझसे कृत्य यह होगा कभी,
क्यो - कि, ऐसे लाज जायेगी सभी,
हाय ! पर क्या - लाज है कुल - की यही,
ध्यान जो मैं, यों पुरुष का कर रही,
आर्य-कन्या, कृत्य कब ऐसा - करे ।
ध्यान वे जिसका करे, उसको वरे,
अत. सावित्री, विपद-नद मे बही,
प्राप्त ही वे, सत्य को 'करके रही,
कर चुकी घनघोर तप, गिरिनन्दिनी,
और, हर-ध्यानस्थ की वामा बनी
ध्यान केवल चित्त मे जिसका किया
अन्तत' उसको उन्होने वर - लिया
वे, न निज-सकल्प से, किञ्चित हटी
लाख-बाधाये यदपि, पथ - मे डटी,
सोचना सर्वस्व, अपना है जिसे ।
क्यो न ! फिर सोचूँ कि सौपूंगी किसे !
और, फिर जब सोचने की, शक्ति है,
उचित ही तब, चिन्त्य - मे अनुरक्ति है,
ध्येय - को मैं अब न यदि पाऊँ कहीं,
पापिनी तो, तब गिनी जाऊँ सही,
मार्ग सावित्री दिखा हमको गई,
जो, स्वय - नीचा दिखा यम को गई,
नारि का जग - में, पतिव्रत धर्म ही,
है परम - भूषण, तथा शुभ - कर्म - ही,

यही तो जननी, सिखाती नित्य है,
नारियों का धर्म, पातिव्रत्य है,
ईश ! दो अब शक्ति, निज पथ-पर डटूं,
चिन्त्य अपना प्राप्त ही करके हटूं,
एक बस, निषधेश मेरे नाथ-हो,
लाज मेरी, सब उन्ही-के हाथ-हो,
वर-लिये, निषधेश निश्चय ! वर-लिये,
अनुचरी मै, देव वे, निज कर-लिये,
रोक अब कोई ! मुझे सकता नही,
देव ! अब तुम छुट न जा सकते कही,
हे प्रभो ! वर दो सफल हो कामना,
विघ्न सब हट जॉय, हो यदि सामना,
इष्ट यग्नि, यम-को परीक्षा हो-कडी,
सज्जिता हो, तो-मिलूँ, सम्मुख खडी,
भाव नाना, वेग से यो-ही चले,
कौन ! जग-मे, कल्पना न जिसे-छले,

"सोच तुम, नल को, रही हो क्या सखी !
प्रेम-नद-मे, बह गई-हो, क्या-सखी !
पुष्प-चय कितना-अरी ! हमने किया,
सच कहो ! किसको, हृदय तुमने दिया,
हाथ पर धर चिवुक, बोली केशिनी,
चौंक तब, सकुचा गई, वर-वेशिनी,
स्वस्थ-सी हो भीमजा, बोली तभी,
सुधा-सी, सखि - श्रवण-मे, घोली तभी,
भाव निज मन के तिरोहित-थे किये,
प्रियतमा करती न क्या ! प्रिय-के लिये"

"हे सखी ! वह हंस देखो तो - सही,
देखती, अब तक कि मैं, जिसको रही,
हँसनी उस ओर जाती दौडकर,
और, यह इस ओर लाता मोड़कर,
दे रहा इस भाँति उसको कष्ट है,
क्या - कहूँ, कितना अरी ! यह धृष्ट है,
सोचती - थी, चित्त - मे, वारूँ इसे !
केशिनी ! कुछ - दो मुझे, मारूँ इसे"

"दृश्य यह सखि ! छोड व्रीडा देखलो !
हंस - दम्पति की सु - क्रीडा देखलो !
सीखलो, अवसर निकल फिर जायगा,
फिर न शिक्षक आलि ! ऐसा पायगा,
प्रेम - का यह खेल, आलि ! न कष्ट है,
देखलो ! इस युगल - का मुद स्पष्ट है,
है गुणज्ञे ! नियम यह अभिसार - का,
मौन - है सकेत स्वीकृत - प्यार का"

बात कैसी भी कहे, कोई कही,
झाड़ - देती वक्तृता - तुम, हो वही,
चुप - रहो, बनने चली - हो, पण्डिता,
बोलने तक का न, तुमको है पता,
घर चलो ! अब बहुत ही दिन चढ़ गया,
देखलो, रवि - रथ, कहाँ तक बढ़ गया,
चल - पडी यो - भीमजा, कहकर तभी,
साथ - ही सखियाँ - चली, उसकी सभी,

युक्ति उसकी काम, सहसा कर - गई,
वह विनोदामृत - सरित रोकी, नई,
पूर्ण कर देवार्चना, माता - जहाँ—
सोत्सुका बैठी, सुता - पहुँची - वहाँ,
विनय-से, निज - अम्ब - पद - युग परस-कर,
पा - लिया, आशीष शुभ, कल्याण - कर,
छिडा - सुखदालाप, आशा-सी जगी,
अम्ब-पद - बैठी, उमा सम, वह - लगी,
फल बिखरे वाद्य सहसा बज उठे,—
सुन जिन्हे, सब दास - दासी, सज - उठे,
'दान्त' 'दम' युग - अनुज को अनुगत किये,
कक्ष - मे, सुस्मित - दमन ने, पद दिये,
देव ही - शिशु - रूप - धर, मानो अहा—
आ - गये हो, नेत्र - सुख - दायी महा,
झुक - गये, माँ पदो - मे, तीनो - अरे !
मुदित - माँ ने अक - मे, तीनो - भरे,
प्राप्त थी तिस्रेषणा प्रत्यक्ष - सी,
साधना - सम्पूर्ण, दिव्य - समक्ष - सी,
निकट - बैठाये, कथन - कर "शत-जियो"
मार्ग शुभ हो और सौख्यामृत - पियो,
पूर्ण - थी अब - सभी - की नित्य - क्रिया,
ध्यान फिर सब ने स्व - कार्यो मे दिया,
'नृप सुता' अस्वस्थ सी, हृद था हिला,
आज, नूतन - पाठ जो वह था मिला,
प्रेम - नद, मन - मे हिलोरे, था लिये,
और वह, असफल-नियन्त्रण थी किये,

तब-से पीछे दमयन्ती - को, देखा - सदा उदास,
कभी न उसके चन्द्रानन-पर मिला, पूर्व-सा हास,
क्रीड़ा-कलित देख हसो-को, सुनकर पिक-का गान,
नृत्य, मयूरों का करता था, कुछ परिवर्तित ध्यान,
किन्तु, छिपाये सदा - रही,
अपनी - पीड़ा आप सही,
किये अनेक प्रयत्न, थकी—
किन्तु न - प्रिय को भुला सकी।

द्वितीय सर्ग

"निषध" नामक यह विस्तृत देश,
जहाँ-से है दुख दूर अशेष,
दिनो-दिन होती जाती वृद्धि,
खेलती चारो - ओर समृद्धि,
न होता दृग्गोचर जन-क्लान्त,
सभी है, शिष्ट, शान्त, सभ्रान्त,
सभी के नीति-बुद्धि-युत-कार्य,
यहाँ - पर शिक्षा है अनिवार्य,
श्रमिक, करते है, श्रम जी-तोड,
लगाकर खूब परस्पर होड,
और धन पाते है पर्याप्त,
कि-जिससे उन्हे, सभी सुख प्राप्त,
योग्य है कृषको-का समुदाय,
करे वह, स्वय, स्व-सौख्य उपाय,
भूमि-से उपजाते धन-धान्य,
सभी जन, इन्हे समझते मान्य,
न इनको कभी सताती ईति,
न नृप-से भी है ऐसी भीति—
कि 'कल को वह लेगा भू-छीन,
और, हम रह जायेगे दीन'
उपज-का दशम - अश वे अन्न,
नृपति-को देते सदा प्रसन्न,
राष्ट्र-हितकारी उसको - मान—
मुदित हो लेते भूप महान,

उसी-से विविध साज-सामान
उन्हे करते-वे नित्य प्रदान,
राज्य-मे विस्तृत कुल्या - जाल,
और निर्मित है कूप-विशाल.
सिचाई-का, करते जो-काम,
बने-है कही, सुखद आराम,
बीज नव, नव, देकर प्रति-वर्ष,
राज्य, कृषि-का करता उत्कर्ष,
राजपथ जाते-है सब-ओर,
घिरे-तरुओ-से, जिनके छोर,
अनाथालय, वे शिक्षा सद्म,
जहॉ-खिलते, अभिनव-शिशु पद्म,
सैन्य-शिक्षा-भी है, अनिवार्य,
सभी गुरु-कुल, करते यह कार्य,
पंगु, विधवा अथवा दृगहीन,
कर्म के है अयोग्य, जो-दीन,
सभी-का करता, राज्य प्रबन्ध,
अत वे भी सब है सानन्द,
चतुष्पद और द्विपद-के-हेतु,
चिकित्सालय है, दृढतम-सेतु,
जहॉ-रोगो - का पारावार,
सभी, तरते होकर साधार,
न वाञ्छित-शुल्क , न्याय-के अर्थ,
दण्ड-पाते सम, दीन, समर्थ,
प्रजा-है, सभी - प्रकार प्रसन्न,
पूर्ण है उस पर धन व अन्न,
सभी की सुन्दर देह-विशाल,
गठे तन भट-सम उन्नत भाल,

देख कोई भी उनके कार्य,
कहेगा उन्हे कि "ये है आर्य"
सुखद है उनके-सब व्यवहार,
मान्य-है, सर्व-प्रथम आचार,
न सेवन करते मादक - द्रव्य,
प्राप्त है सर्पि, दुग्ध, दधि गव्य,
घडे-से स्तन वाला गो-वृन्द,
बहाता गो-रस सिन्धु अमन्द,
उपस्नुत रहता वह, दिन-रात,
और है, कामधेनु-से गात,
न होता दृग्गोचर जन-अज्ञ,
गृही करते नित, नूतन-यज्ञ,
न जनपद-मे, कोई है चोर,
झुके-ऋषि, आत्म-ज्ञान की ओर,

जहाँ-की जनता यो-सम्पन्न,
वहाँ-का राजा-भी है धन्य,
देव-सम उसका कान्त-शरीर,
सकल-गुण-युक्त, धीर, वर-वीर,
वृहद् युग-लोचन, विस्तृत-भाल,
युगल-भुज है आ-जानु विशाल,
बने वे, बल-के अनुपम-कोष,
वक्ष, हिम-गिरि-सा है निर्दोष,
हृदय-है अतुल धैर्य-का स्थान,
और, ग्रीवा-है सिह-समान,
कर-चुके, विधिवत, विद्याभ्यास,
वास-कर निज कुल-गुरुके-पास,

समर-मे, उनका वह कोदण्ड,
छोडता-है जब, वाण-प्रचण्ड,
और, दृग-युग, बरसाता-ज्वाल,
दीखते तब वे, काल-कराल,
न टिकते, रिपु फिर कही-समक्ष,
भागकर-होते भीत, अलक्ष,
स्वय को जन-मन रञ्जक-मात्र,
समझते हैं, नल-राज सु-पात्र,
प्रजा हित-मे ही, आठो-याम—
बीतते-है, करते-शुभ काम,
जहाँ-तक उनका अधिकृत देश,
वहाँ-तक है सुख-वास विशेष,
तुष्ट हैं, सभी-साधु-विद्वान,
दुष्ट को दण्ड, मान्य-को मान,
धर्म-द्विज, गो-सेवा सविशेष,
मुदित-हो करते, सदा-नरेश,
दिनो-दिन बढ़ता है तरु-धर्म,
सीचते-हैं, जिस को शुभ-कर्म,
नीति-मे हैं भूपति निष्णात,
समझते उन्हे, प्रजा-जन भ्रात,
जहाँ, गुण नृप मे भरे अनेक !
वहाँ अवगुण-भी उनमे एक—
छिपा-है, कि वे खेलते द्यूत,
हुए-पर, इससे वे न अपूत,
क्यों-कि इसमे न नृपति का दोष,
न विधि ने की कुछ वस्तु अदोष,
इन्दु-में कलुष, पुष्प-में कीट,
सदा करता आया, विधि-ढीठ,

किन्तु, नपृ-मे जो सु-गुण अनेक,
छिपा, उनसे लघु-दु-र्गुण एक,
जनक इनके जो अब स्वर्गस्थ,
वीरसिँह थे जब इहलोकस्थ,
देख तब सब-विध गुणी, उदार,
स्व-सुत, नल-को सौपा, निज-भार,
तभी-से सज सुजनोचित साज,
प्रजा-रञ्जन करते नलराज,
अनुज वह, उनका पुष्करदत्त,
देश-रक्षा कर-रहा अमत्त,
देव-से जन, दिव जैसा देश,
और देवेन्द्र-तुल्य जनतेश,
नारियाँ, पुरुषो के अनुरूप,
सभी-मे, सद्गुण-भरे अनूप,
ज्ञान-का उनमे, पूर्ण प्रकाश,
प्रमुख उनमे न, सुहास, विलास,
यही - है, इसका - हेतु-महान्,
निषध है जो - सुर-लोक समान,
राष्ट्र-को वे, सु-योग्य-सन्तान,
सदा-करती निष्पाप प्रदान,
कि, जिनके-है देवोचित-कार्य,
और वे-कहलाते है आर्य,

गगन-चुम्बी सुन्दर प्रासाद,
दूर-रहता जिनसे अवसाद,
स्वच्छ, धन-धान्य-युक्त, सुविशाल,
उठाये-है, गौरव-से भाल,

सभी वे, शिल्प-कला उत्कर्ष,
व्यक्त-करते-है, खडे सहर्ष,
खचित-है, वेलि-प्रभृति का काम,
सुरक्षित, उनमे सब-आराम,
और चलते, आमोद, प्रमोद,
भरी, परिजन-से उनकी गोद,
दु:ख हैं जिनसे कोसों-दूर,
वास उनमे सुख का भर-पूर,
मार्ग-फैले, विस्तृत सब ओर,
न होते दृग्गत, जिनके-छोर,
नगर-में आपरण लगे महान,
सजा जिनमे, विक्रय-सामान,
बरिणज सब, निज कृत्यों मे मग्न,
धर्म-धन-की भी जिनको लग्न,
बना-व्यापार, स्वय-ही दास,
चचला का-है, अचल-निवास,

सुखों से पूर्ण, स्वच्छता-युक्त,
गगन-को छूता-सा उन्मुक्त,
खडा है, शुभ्र राज - प्रासाद,
समेटे सुरैश्वर्य निर्बाध,
उसी-पर फहर-रहा, निस्तन्द्र,
किये-अङ्कित, सोने-का चन्द्र,
राष्ट्र-ध्वज, शुभ्र-पवित्र महान,
नृपति-यश-का करके गुरण-गान,
न उसको नत-होने का ज्ञान,
समुन्नत रहने का ही ध्यान,

उधर वह राज-सभा का स्थान,
बीच-मे शोभित पीठ प्रधान,
यहाँ, सज्जा, सीमा-को पार—
गई कर, कहता मन-हरबार,
देखकर इसको, होता भान,
कि है मणि-माणिक्यो की खान,
और यह भ्रम होता अनिवार्य,
कि, यह न नरो-का है, सुर-कार्य,
विश्वकर्मा ने, या सस्नेह,
रचा, यह स्वय, नृपति-का गेह,
सभासद बैठे है सब शान्त,
अहा, कितने उदात्त सभ्रान्त,
मध्य मे सानुज नृप सानन्द,
'नृपति यश गाता' चारण-बृन्द,
मुकुट-शोभित नृप शीर्ष-विशाल,
भानु-सा, कान्तिमान है भाल,
सचिव बैठे-है, दोनों ओर,
सुसज्जित रक्षक है निज ठौर,
समझकर मञ्जुल विधु-सा स्थान,
खेलती, नृप-मुख-पर मुस्कान,
सुखद-सा धारे रूप-अनूप,
कृपा-कर रहे सभी-पर भूप,
देखकर यह सब होता भान,
कि, यह है सुरपति-सभा महान्,

किये, धारण रुद्राक्षी माल,
दिवस-मणि तुल्य दीप्त है भाल,

मधुर-रस बरसाता मुख शान्त,
जिसे लख सुख पाते जन क्लान्त,
सु-शोभित पीताम्बर से गात,
और 'महती' वीणा है हाथ,
पादुका-ध्वनि, करती आकृष्ट,
जनो-की अपने अभिमुख दृष्टि,
सजाये, यो मुनियों का साज,
हुए दृग्गत नारद ऋषिराज,
उन्हें पा सहसा उठे जनेश,
हुआ, हर्षित उनका हृद-देश,
प्रणत नृप सानुज हुए प्रवीण,
किये फिर ऋषि, आसन-आसीन
सलिल-से प्रक्षालन-कर पाद,
दिखाया, निज आतिथ्य अगाध,
विलोकित कर नृप-प्रेम अनन्त,
दिया, ऋषि-ने आशीष तुरन्त,
और फिर कुशल-प्रश्न-पश्चात्,
नृपति ने कहा-जोड़कर हाथ,
"आज है पुण्योदय श्रीमान,
पधारे, सेवक-गृह भगवान्,
जिसे, दर्शन-देते है आप,
नष्ट-होते, उसके सब-पाप,
कहाँ यह मेरा पुण्य महान्,
निरा हूँ मैं, दुर्मति अज्ञान,
पूर्वजों का यह पुण्योत्कर्ष,
हुए जो मुझे देव-के दर्श,
अहा-सचमुच कितना सौभाग्य,
स्वयं अभ्यागत हैं, गतराग,

देव ! अपवर्ग, स्वर्ग, या मोक्ष,
यदपि, ये-भी है सभी-परोक्ष,
किन्तु है सब जन-के आधीन,
कर्म कर पाते, इन्हे प्रवीरण,
देव ! पर यह न कर्म-से साध्य,
कि-आवे, घर बैठे आराध्य,
आप-ऐसों की, करुरणा-मात्र—
कराती-प्राप्त, आप-सा पात्र,
स्वय-हो कार्य, स्वय-हो-हेतु,
स्वयं हो सिन्धु, स्वय हो सेतु,
कृपा की तो पाया शुभ-दर्श,
दर्श-से होगा ध्रुव उत्कर्ष,
सुहित होगा कुछ आज विचित्र,
धन्य जीवन हो गया पवित्र,

श्रोत्र-है, मेरे व्यग्र-महान,
सुधा-वारणी-का हो शुचि-पान,
अत. कुछ आज्ञा देकर नाथ !
करो ! सेवक को आज कृतार्थ,
"हिलाकर जटिल स्व-शीर्ष विशाल,
खिलाकर-कुसुम-रदो का जाल,
और मन में भर, हर्ष अनन्त,
बचन बोले—अमृतोपम सन्त,
कुमुदिनी-वल्लभ कुलज-अनूप,
स्वय तुम योग्य सुखद शुचि भूप !
तुम्हारा-प्राप्य स्वत. गुर्ग-वर्ग,
तुम्हारे लिए वत्स ! क्या स्वर्ग,

तुम्हारा धन्य देश, निषधेश !
हुआ जिससे निष्प्रभ सुर-देश,
तुम्हारे देख, कार्य, मनुजेन्द्र !
सशंकित-रहते हैं देवेन्द्र,
आपके सु-विचारों-से, तात !
क्यो-कि है अविदित-से सुरनाथ,
लोक-रञ्जन कर विधिवत भूप !
रचा तुमने यश—धवलस्तूप,
और, कर यज्ञ अनेक महान्,
अपरिमित दे दीनो-को दान,
योग्य ही तुमने किया, उदार !
किन्तु, इन्द्रासन-पर अधिकार—
न तुम कर-बैठो, यह सन्देह,
जलाता-है सुरेन्द्र-की देह,
किन्तु, करते तुम तो, शुभ-काम,
छोडकर, फल-वाञ्छा-अभिराम,
तुम्ही-से मिलने की ले-चाह,
इधर मै, आ-पहुँचा नरनाह !
यज्ञ-कर, विद्या-से हो युक्त,
हुए देवर्षि-ऋणो-से मुक्त,
अभी-पर पितृ-ऋण से उन्मुक्त—
न हो, है वत्स ! गृहस्थ अभुक्त,
यदपि, मेदिनी भूप की दार,
कि, जिससे होता भव-उद्धार,
किन्तु, अब पितृ-ऋण का परिशोध—
करो, है यह मेरा अनुरोध,
दूसरे आश्रम-मध्य प्रवेश—
करो अब, इसी हेतु जनतेश !

प्रजा-सुख, स्वर्ग शान्ति की मूल,
प्राप्त-कर, पत्नी निज-अनुकूल,
करो, उत्पादित वर-सन्तान,
कि जिससे-हो ऋण-का अवसान,
भीम-नृप-का विदर्भ-जो-देश,
आज सुख शान्ति, जहाँ-सविशेष,
श्रेष्ठ है नृप भी साङ्गोपाङ्ग,
उन्ही की तनया परम शुभाङ्ग,
शिरोमणि सुन्दरियो की एक,
रची वह विधि ने सहित विवेक,
उसी-की सुन्दरता के गीत,
स्वर्ग-मे, गाते देव पुनीत,
छोड अप्सरा, स्वर्ग अपवर्ग,
उसी-पर आकर्षित सुर-वर्ग,
और है, वे सब आज स-यत्न,
प्राप्त-हो हमे-कि वह भू-रत्न,
तीर्थ-अवगाहन कर उस-बार,
गया - मै भीम नृपति-के द्वार,
रम्य - कुण्डिनपुर उसका धाम,
देख, मन ने पाया विश्राम,
नृपति ने दिया मुझे बहुमान,
तुम्ही जैसे, वे - भी गुणवान,
और फिर कुशल-प्रश्न कर, तात !
चलायी नम्र - नृपति ने बात,
धन्य उनके कहने की रीति,
हुई जिससे मुझको भी प्रीति,
"आज तीनों लोको मे नाथ !
आपसे वीणा हुई सनाथ,

विपञ्ची - कुशल आप-सा आज,
न कोई भी श्रुति-गत ऋपिराज !
अनेकों बार दृगों को मीच,
सोचता था, मैं मानस - बीच,
हमारे हरने को सब पाप,
कदाचित्, यहाँ पधारें आप,
सुता को वीणा - वादन ज्ञान—
प्राप्त करने - को सुखद महान,
आपकी सेवा - में हे नाथ !
छोड़कर, मैं हो सकूँ कृतार्थ,
अतः मेरी यह विनय, उदार !
कृपा करके कीजे स्वीकार,
योग्यता - पूर्वक, भाव असीम,
प्रगट - कर, बैठ-गये चुप-भीम,
नृपति ! यद्यपि हम बन्धन-हीन,
किन्तु है प्रणतो - के आधीन,
देखकर उनका निश्छल भाव,
किया स्वीकृत मैंने प्रस्ताव,

वत्स ! मैंने देखे सब-लोक,
सुरों-से, दीनो-तक के, ओक,
निहारे, बड़े अनिन्द्य-स्वरूप,
किन्तु, अगले दिन ही, हे भूप !
भीमजा-का वह रूप-महान् —
देख मैं था कुछ क्षण, गत-भान,
और, विस्मय - विस्फारित - अक्ष,
देखता, मञ्जुल-मूर्त्ति समक्ष,

आज तीनो लोको मे भूप !
न उस जैसी सुन्दरी अनूप,
पूर्ण वह नारि गुणो की धाम,
उचित उसका दमयन्ती नाम,
वहाँ, कुछ रहने-के पश्चात्—
जान पाया, यह उसकी बात—
कि, 'दम' ऋषि-का पाकर वरदान,
पा - सके उसको, भीम महान्,
सुता का ही था यह सौभाग्य,
कि, जागा-भीम नृपति-का भाग्य,
प्रथम कुछ थी न उन्हें सन्तान,
किन्तु, अब है वे पुत्रोवान,
तीन सुत उनके घर - मे मोद—
बढाते - अब, भर माँ - की गोद,
देख - यो, गत अपने सन्ताप,
और, दम ऋषि का पुण्य - प्रताप,
स्व - श्रद्धा प्रगटानी थी इष्ट,
और था, ऋषि-गुण-गान अभीष्ट,
अत. सब निजात्मजो के नाम—
धरे, लक्षित - कर 'दम' निष्काम,
दमन दम, दान्त, सभी वे बन्धु,
बहन के सम ही है गुण-सिन्धु,
भीम-भी हैं अब, परम-प्रसन्न,
(प्रथम रहते थे जो अवसन्न,)
देखकर उसकी बुद्धि कुशाग्र,
ग्रहण मै तत्पर ज्ञान समग्र,
स्व-शिष्या को पा यो सत्पात्र,
हर्ष-से फूला, मेरा गात्र,

बताता - उसे तनिक मैं बात,
भेद-वह अग्रिम करती ज्ञात,
छिपाकर रख न सका कुछ ज्ञेय-
यही था उसका भी तो ध्येय,
कि, अन्य कलाओं की जिम-भाँति,
पराकाष्ठा, उसने की प्राप्त,
उसी विध वीणा - गुण - सर्वज्ञ—
बने वह, रहे न किञ्चित अज्ञ,
अल्प - से मासों में, हे भिज्ञ !
हुई वह, वीणा - वादन - विज्ञ,
आज बस, मुझको जग-मे छोड,
न उसकी और कही है होड़,
देखकर पूर्ण विपञ्ची - ज्ञान,
बुलाये, मैंने नृपति महान्,
कहा-उनसे कि, मुझे जो भार—
दिया, उसको मै रहा उतार,
पूर्ण तनया - की शिक्षा आज,
परीक्षा ले लीजे, नर राज !
बुलाई फिर मैं भैमी शुभ-नाम,
स-वीणा आ- पहुँची गुण - धाम,
अहा - उसका - वह वादन - ढंग,
देख रह-गये, नृपति भी दंग,
शोभती - वीणा उसके - अङ्क,
कि, हो जिस-भांति स-एण-मयंक,
शारदा आकर या उस गेह,
बजाती हो, वीणा-स-स्नेह,
श्रवण-कर वीणा-की मृदु-तान,
हुए चेतन, जड़ - से अनजान,

वहाँ - जन, जा न सके, हा-शोक !
लगी थी, क्यो-कि नृपति-की रोक,
किन्तु, पक्षी - आगम उस-काल,
बाँधकर रख न सके नरपाल,
हुई, यों - सहसा उनकी भीड,
वही थे मानो, उनके नीड,
बढा यह, तभी कुतूहल और,
हुआ, नभ-मे घन-गर्जन घोर,
तनिक पहले था निर्मल-स्वच्छ,
वहाँ - अब - घिरे, घटा - के गुच्छ,
और, फिर बढा, वायु - का वेग,
बरसने लगे, वेग - से मेघ,
झरोखो-से झर-झर मृदु तान,
निकलती थी बाहर अनजान,
मनुज, बरबस होकर एकत्र,
खडे सुनते थे, मृदु - वादित्र,
न था उनको वर्षा - का ज्ञान,
दीखते, चित्रोल्लिखित - समान,
बदलते, ज्यो, स्वर, उसके - हाथ,
प्रकृति - देती थी, त्यों - हीं साथ,
हवा, वर्षा, नभ - मे घन - जाल,
स्व-क्रम से, आते-थे, उस-काल,
देख-वह अद्भुत कार्य - कलाप,
धन्य, समझी वह, मैने आप,
परीक्षा फिर वह हुई समाप्त,
तभी, मणि - मुक्ता ले - पर्याप्त,
दक्षिणा - का, उनको - दे - रूप,
लगे थे मुझको - देने भूप,

हृष्ट - हो, मैं, बोला - तत्काल,
क्षमा - कीजे, सुनिए भूपाल,
न धन - से, अर्थ मुझे नरनाह !
विरक्तों को धन की क्या - चाह !
तितिक्षा - में हे भूप ! दुरन्त—
एषणाओं - का होता अन्त,
न आवश्यकता रहती शेष,
करें फिर, क्या-धन-का जनतेश !
चाहते हम तो, केवल मुक्ति,
कि, जिसकी अनासक्ति है युक्ति,
द्रव्य-से हो जाती आसक्ति,
कहाँ फिर जप, समाधि, तप, भक्ति,
द्रव्य ही है बन्धन - का मूल,
साधुता - के पथ-का, खर - शूल,
आपको, समझाना है व्यर्थ,
न है शिक्षा, शिक्षित के अर्थ,
न मैं धन रख सकता हूँ पास,
किन्तु, नृप ! करना तुम्हें हताश—
न है मुझको, इस समय अभीष्ट,
अतः यह स्वीकृत, भेंट वरिष्ठ,
और यों-कह लेने के साथ,
दिया वह धन, भैमी - के हाथ,
मुदित-दीखे, फिर भीम - महान्,
न होते, दुराग्रही - विद्वान,
गई-भैमी-भी, अपनी - ठौड़—
सहित नृप-के, मुझको कर जोड़,
मुझे गमनोत्सुक देख तुरन्त,
कहा, नृप ने भर-प्रेम अनन्त,

समय, अब सुता-स्वयवर-काज—
विनिश्चित-सा ही है, मुनिराज !
उसी शुभ-वेला-मे, हे नाथ !
कृपा-कर कीजे, हमे - सनाथ !
उन्हे, आने-का, दे - बिश्वास,
चला, मै हर्षित, पथ-आकास,
दृगो-मे भैमी - मञ्जुल - मूर्त्ति,
और, श्रुति-मे तानो-की पूर्त्ति,
वही सब-कुछ, पहले का चित्र,
मुझे, घेरे-था परम - विचित्र,
उधर, कर गगन - वायु का पान,
छोडती थी महती मृदु - तान,
इधर झकृत मेरा हृद् - देश,
दिये था, उसका - साथ विशेष,
यही उठता - था एक - विचार,
कौन है ! ऐसा - गुणी - अपार,
कि, जो हो, भैमी-के सम - कक्ष,
जिसे, यह वर-ले, देख समक्ष,
और, बरबस ही मेरी दृष्टि,
आप - पर होती थी आकृष्ट,
जँचे, तुम ही, मुझ को, हे शिष्ट !
उसी - सम, सुन्दर - गुणी, वरिष्ठ !
घूमकर तब - से विविध - प्रदेश,
आज - मै आया, यहाँ जनेश !
यही कहने की रखकर चाह,
कि, उससे करलें आप विवाह,
सखा, या सचिव, नारि - के काम,
करे वह पूरे, बन कर बाम,

तुम्हारे योग्य सुखद वह रत्न,
करो, उसको पाने का यत्न'',

''बात यदि ऐसी है ऋषिराज !
शीघ्र जाता - हूँ तो मैं आज,
साथ-मै लेकर सैन्य - समूह,
करूँगा नष्ट, भीम - का - व्यूह,
और, भैमी - को, बल - से छीन,
आर्य - के कर - दूँ मै आधीन,
बन्धु - हित किया न जो, यह - काम,
व्यर्थ तो, मेरा "पुष्कर" नाम,
किये - ग्रीवा नत, लज्जित - भूप—
श्रवण - करते ऋषि - वचन-अनूप,
सभासद - नृपाभिमुख मतिमान,
वहाँ - बैठे थे, चित्र - समान,
किन्तु, सुन पुष्कर - घोष, तुरन्त—
दामिनी - सी दमकी द्युतिमन्त !
उसी-की द्युति - में, हे नरपाल !
सभी ने निज - को लिया सँभाल,
खिचे-से, उन सबके दृग - जाल—
गये, पुष्कर - मुख - पर तत्काल,
शुचि - स्मित ऋषि ने कहा - तुरन्त,
वत्स ! होता यों - कृत्य दुरन्त,
दिखाकर पशु - बल राजकुमार !
देह पर पा - सकते अधिकार,
बनाये जाते जो यों - भृत्य,
न मन - से करते वे शुभ - कृत्य,

शक्ति का है, नारी अवतार,
उसी - से चलता है ससार,
प्रेम - देकर मिलता है प्रेम,
वही करता, प्रेमी - का क्षेम,
अगर चाहो होना हृदयेश,
करो, तो हृदय - दान निश्शेष,
सुनो ! पति पत्नी का सम्बन्ध,
न, बल से होता है सुखकन्द,
स्वयवर - मे वह निज वर-माल,
गले - मे, अग्रज-के दे डाल,
करो, कुछ ऐसे ही तुम यत्न,
यत्न - से ही मिलते है रत्न,
गुणों - से पहले, रूप - महान,
नारि - के मन - मे पाता स्थान,
और, इसमे आगे - है भूप,
प्राप्त है इन्हे अनिन्द्य - सु-रूप,
यही - मेरा भी है आशीष,
मिलावे इस जोड़ी को ईश !
कथन यो - करके मधुर, तुरन्त,
हुए जाने - को उद्यत सन्त,
अनुज - को क्षमा करो, हे नाथ !
उठे, यो कह भूपति - भी साथ,
बन्धु इन बातो - मे अनजान—
अभी - तक है, हे पूज्य महान् !
विहँस कर मुनि बोले—"हाँ - ठीक",
तभी, तो यह प्रस्ताव अलीक,
और फिर, नृप-वारण परवाह—
न करके, पकडी ऋषि ने राह,

बाँध सकता सन्तों को कौन !
ग्रतः रह गये विवश सब मौन ।
रोपा, ऋषि ने प्रेम-बीज जो, नृप - के मानस - बीच,
किया, ग्रंकुरित ग्रौर पल्लवित वह, स्मृति-जल ने सींच ।
रह, रह, सुमन - स्वप्न वह देता, ले मृदु - मन्द - हिलोर,
क्षरण-क्षरण बोझिल-सा नृप-का मन रहता गन्ध-विभोर ।

तृतीय सर्ग

चुने-हुए रणधीर वीर सग लिये-हुए है,
आखेटक-का वेश निषधपति किये-हुए है।
श्वेत-अश्व-पर चढे हाथ-मे लिये-शरासन,
किया, नृपति ने मृगया-के हित, बन-अवगाहन।
वाजि - वेग के शब्द सेवकों - की हुंकारे,
होती थी दिग्व्याप्त फणी - जैसी फुकारे।
कोलाहल-सा मचा, भीत पशु - पक्षी शकित,
जागृत - बन को छोड, भागकर हुए अलक्षित।
दीख-पडा मृग एक, लगाया पीछे घोडा—
वायु - वेग - श्वेताश्व, हरिण - के पीछे - दौडा।
मृग था कभी - समीप, कभी - आगे जाता था,
लक्ष्य-भ्रष्ट हो तीर, धनुष-पर रह जाता था।
भरता था चौकडी हरिण, झोका - सा जाता,
पद-पद पर वह शक्ति, प्राण - भय - से था पाता।
गरुड - सदृश आ - रहा तुरग - भी मृग - के पीछे,
शक्ति, कही - अज्ञात लिये - जाती ज्यो - खीचे।
स्वेदाप्लुत था गात, फेन मुख - से झरते थे,
मानो, पादाक्रान्त - धरा-के व्रण भरते थे।
प्राणों की थी होड़ हुई, दोनो की बन - में,
चले भूमि - पर स्वल्प, अधिक वे उड़े गगन - में।
पीछे - ही रह गये नृपति - के सभी सिपाही,
कहीं प्राकृतिक झील, कही पथ - मे थी खाई।
उलझ पड़े हों बाल, विरहिणी - सिर - में जैसे,
झाड़ी - उलझी मिली, नृपति - को पथ - मे वैसे।

मृग हो गया अदृश्य, भूप मन - में मुस्काये,
मारा जाता वही, काल जिसके-सिर आये।
धीरे - धीरे, अश्व चला, अब उनका बन-में,
छटा प्राकृतिक देख महीप मुदित थे मन - में।
ये, खग - मृग - आमीन, सिद्धि साधे ज्यो साधक,
इनके सुख-में भला - बना हूँ क्यो मै बाधक।
मनुज स्वार्थ का भरा हुआ पुतला है जग - में,
काम-क्रोध, मद, लोभ, मोह, उसकी रग-रग - में।
तनिक स्वार्थ - के लिए दूसरों - के जीवन को—
नष्ट करे धिक्कार ! अधम इस मानवपन - को।
इसीलिए ये दूर ! मनुज से दूर ! विपिन - मे,
जीवन करें व्यतीत, मुदित - हो अपने मन - में।
किन्तु, चैन ये नहीं यहाँ - पर भी पाते - हैं,
रसलोलुप नर, हन्त ! यहाँ भी आ जाते हैं।
निरपराध - ये, तभी अनेकों - मारे जाते,
दूर नरों-से रहें, न फिर भी तो रह-पाते।
जन - द्वारा जन कहीं, सताये हैं यदि जाते,
तो, न्यायार्थ समीप तभी वे मेरे आते।
इनका किन्तु न कहीं न्यायकर्त्ता है कोई,
तनिक स्वार्थ - के लिए नरों ने नरता खोई।
नरता - से देवत्त्व प्राप्त कर सकता मानव,
किन्तु, कहाँ देवत्त्व ! पतित हो बनता दानव।
मनुष्यता से हीन, मनुज, क्यों, दनुज रहेगा,
निज दनुजत्त्व विनाश, दनुज क्या - कभी सहेगा।
जब-कि दैत्य बन, दैत्य रहें तो भले न क्या - वे,
पर, मानवता - हीन न जाने मानव क्या - ये।
जीव - मात्र का बनकर हितु, जग-में नर आता,
इसीलिए सविशेष, प्रकृति - से साधन पाता।

अगर न हित कर सके, अहित तब क्यो करते है,
इनके द्वारा निरपराध, दुख क्यो-भरते है।
इधर लक्ष्य की सिद्धि, उधर है जीवन जाता,
फिर भी देखो, दया-देव मानव कहलाता।
लक्ष्य-सिद्धि-के लिए, अन्य साधन हो-सकते,
और, क्षुधा-भी मनुज, अन्न-द्वारा खो-सकते।
उपकारी मानव ही, मानव हो सकता है,
वही धरा-पर जीव-दुखो को खो-सकता है।
उसको ही कर प्राप्त, देश सु-मुदित होता है,
वही मनुज बस, अन्य-दुखो-मे जो रोता है।
शस्त्र, धनुष, असि, आदि-आततायी के हित है,
दण्ड-व्यवस्था सभी, दुष्ट के अर्थ विहित है।
नही, आज से निरपराध-को मै मारूँगा,
अकिञ्चनो को सता, न मानवता हारूँगा।
वैरसेनि के जगे भाव, ऐसे तब मन-मे,
लखते चले विहार पक्षियो का वे बन-मे।
वातावरण-प्रभाव, हृदय-पर पड जाता है,
अत सिद्धि के लिए मनुज बन-मे आता है।
हुए प्रभावित भूप, इसी-से यह व्रत ठाना,
पक्षी उडते कही, कही-पर चुगते दाना।
जिसे-देख कुछ पूर्व, सभी पशु-पक्षी, भागे,
घूम-रहे अपभीत सभी-वे अब नृप आगे।
मोहक-रूप निहार, जीव तब आगे बढते,
मन-भावो-की छाप, वदन-पर मानो पढते।
पशु-पक्षी, कवि-तुल्य, मनो विज्ञानी-होते,
देख सुखी को सुखी, दुखी को पानी-होते।
आया मन्द-समीर गन्ध-शीतलता-लेकर,
हुए विटप कृतकृत्य, नृपति-को छाया देकर।

खग - मण्डल कर - रहा, तरुस्थित गीतोच्चारण,
मानों, आकर यहाँ नृपति - यश गाते चारण।
देख न कुछ अवरोध, बेलि फल - फूल रही थी,
श्रेष्ठ भूप-की प्रजा-तुल्य, दुख भूल रही थी।
प्रियतम - नीरधि से मिलने, इठला - इठला - कर,
भरी सरित जा रही, गीत मस्ती से गाकर।
उनका वह अविराम - गमन, मानो यह कहता,
जहाँ, मिलें प्रिय, वहाँ दुखों - में भी सुख रहता।
झरनो - का जल, तीव्र वेग से रमक रहा है,
सूर्य - रश्मि पड रही रजत-सा दमक रहा है।
शुष्क हुआ था स्वेद, अश्व बढ़ता जाता था,
प्रति - क्षण दृश्य नवीन - मनोरम दिखलाता था,
थी मृगियाँ कर रहीं कही शिशुओं से क्रीड़ा,
मृग बैठे चुप - चाप, मान बच्चों - से ब्रीड़ा।
अब नृप - को अवलोक उठे वे, किन्तु न भागे,
जाती थी सौन्दर्य - मूर्त्ति वह उनके आगे।
जी-भर-भर नृप-रूप-सुधा को थे वे पीते,
बड़े-दृगों के हुए आज सचमुच मनचीते।
कुहू-कुहू गा उठी कोकिला पंचम स्वर-से,
देती हो सन्देश मनोभव - का ज्यों तरु-से।
पुष्प-कुंज थे मंजु, नृत्य केकी करते थे,
पीउ-पीउ कह ताल जहाँ चातक भरते थे।
अटवी थी वह बनी प्रकृत तौर्यत्रिक-शाला,
जगें, देखकर जिसे, विरह की सोती ज्वाला।
छाया देकर विटप नृपति का श्रम हरते थे,
लता-गुल्म-कर सुमन-वृष्टि, पथ को भरते थे।
छोड़ रहा, स्मर प्रखर-वाण मानों, तन - तनकर,
और, सु-सज्जित सैन्य साथ-में हो बन-ठन-कर।

बना रहा था लक्ष्य, नृपति को वह छल - बल-से,
दिखा-रहा था युद्ध - कला अपनी कौशल - से ।
घायल-हुए-महीप, याद भैमी-की आई,
सहसा दृग मुँद गये, हृदय ने पीडा पाई ।
जिसकी विस्मृति-हेतु चले, मृगया-छल-करके,
मानो पा एकान्त, वही आई बल - भर - के ।
लगा-शून्य-सा स्वय, उन्हे अपना वह-जीवन
हो सकता, जो सरस, सुखद पाकर भैमी-धन ।
निकली मुख से आह । हुआ फिर दृग उद्घाटन,
दीख-पडा अब उन्हे और वह सुन्दरतम बन ।
बीच उसी - के बना रम्य-प्राकृत आयत - सर,
सघन-विपन-मे आ-सोया ज्यो मान सरोवर ।
अमल-कमल-खिल रहे सकल - शैवालाच्छादित,
करते थे कल-केलि सरल जलचर आह्लादित ।
पडी नृपति-की दृष्टि, तभी उस सर-के तट-पर,
थे विहार मे मग्न, मुदित-मन हस जहाँ पर ।
बडी - बडी वे श्वेत पुष्प-की-सी मालाये,
अपने - प्रिय - को घेर रही हसी - बालायें ।
होता था अभिसार, प्यार से भरी हुई थी,
मानो, जल-क्रीडार्थ, अवतरित परी हुई थी ।
करते वे कुछ, अलग, दम्पती, कौतुक - नाना,
थे सब क्रीडा-मग्न, न देखा नृप - का आना ।
तरु - से बाँधा तुरग, पिया - भूपति ने पानी,
और, देखने लगे, मरालों - की मनमानी ।
एक हंस उस-ओर सभी-से छिन्न पडा था,
कल्प-बेलि-का सुमन, लता-से छिन्न पडा था ।
सुरत-श्रान्त, तन क्लान्त, आँख उसने थी मीची,
सञ्चित-सी कर रहा शक्ति, जो अभी उलीची ।

श्रेष्ठ स्वर्ण - के पंख देह-पर दमक - रहे थे,
रवि-आतप-से तप्त, और भी चमक-रहे थे।
देख, स्वर्ण के पंख हुआ नृप-को विस्मय-सा,
और, दृष्टि के साथ, उठे उनके पद सहसा।
हुई दृढेच्छा उसे त्वरित कर-गत करने की,
और निकट मे देख, स्व-विस्मय-को हरने की
चले, भूप उस ओर न्युब्ज आकार बनाकर,
उसे पकड़ झट लिया-निकट धीरे-से जाकर।
अप्रत्याशित-विपद । चौंक-खग ने दृग-खोले,
वह, नृप-का कर-परस लगा, जलते से शोले।
फड़-फड़, करते पंख, हृदय-धड़-धड़ करता था,
मुक्ति-यत्न कर रहा भीत, निज बल-भरता था।
किन्तु, हुआ सब व्यर्थ, छुटा वह सका न निज-को,
भूप चकित थे, देख यत्न करते उस-द्विज को।
लगा काटने कभी विहग, तब नृप-के कर में,
और चीखता कभी व्यथित वह ऊँचे-स्वर-में।
खग, दंशन-अवरोध किया नृप-ने मुद भर-के,
और, देखने लगे, हस्त-पञ्जर-गत करके।
छुट न सकूँगा हाय ! हंस ने जब यह-जाना,
तब वह करने लगा-विकल-हो क्रन्दन-नाना।
चौंके-पक्षी सभी करुण - क्रन्दन को सुनकर,
कोलाहल कर आर्त्त, उड़े, पंखो-को धुनकर।
जिस शासन मे दीन, हीन, यों दुख पाते-हों,
निरपराध लघु - जीव, व्यर्थ मारे जाते हों।
वह दुर्नृप - की धरा न रहने योग्य हमारे,
मानों, कह इस-भाँति, सभी - वे, गगन-सिधारे।
उनको जाते - देख, गगन-में उड - कर सहसा,
कनक हंस हो गया, हाय ! जीवित-भी मृत-सा।

बलहीनो - की एक सहायक है बस वाणी,
जिह्वा-द्वारा क्रोध, शान्त करता कृश-प्राणी।
अब है ध्रुव अवसान ! पडा मै किस आशा-मे,
अभय हस ने कहा स्पष्ट मानव-भाषा-मे।
'धिग्, धिग्-रे सौ बार मनुज ! यह नरता तेरी,
होते है नर - दैत्य, दया - से शून्य - अहेरी।
बलवत्ता कुछ नही मारने - मे दीनो के,
होता है क्या - नाम हराने मे हीनो - के।
बनते ही यदि शूर, अरे ! तो वापस जाओ,
है पद-पद पर सुभट, शौर्य उनको दिखलाओ।
हिसा-रस की पूर्ति, प्रणत-मे क्यो-करते-हो,
मै हूँ लघु-सा जीव, मुझे तुम क्यो-धरते-हो।
कौन ! मिलेगा सुयश तुम्हे, वध करके मेरा,
व्यर्थ श्रान्त हो काल, प्राण यह हरके मेरा।
मुझे मार कर, स्वय अमर क्या रह जाओगे,
करके इतना पाप भला - क्या-फल पाओगे।
हाय ! न अपने मरे-मुझे कुछ भी दुख होता,
विलख-विलख कर, इस प्रकार मै कभी न रोता।
हा ! मेरे हत हुए बुभुक्षित परिजन मेरा,
तडप-तडप-कर स्वय, मृत्यु-का होगा चेरा।
है सोने के पख मानता हूँ मै, यह भी,
पर, इनका क्या-मूल्य जानता हूँ मै, यह भी।
दो, दिन भी तो नही कार्य तुम चला-सकोगे,
शुद्ध स्वर्ण-की भाँति - न इनको गला-सकोगे।
जिस सुन्दरता-पर मै अति-ही था हरसाया,
उसने ही, अब मुझे काल-का गाल दिखाया।
शक्ति हीन - को व्यर्थ, ईश सुन्दरता देता,
देता है तब क्यों न, तरी वह उनकी खेता।

अबलों - का सौन्दर्य - लाभ हैं सबल उठाते,
बेचारे निरुपाय व्यर्थ वे, मारे जाते।
अम्ब! अम्ब! अवलम्ब बुढ़ापे का यह तेरा,
पाकर, अवश, अनाथ, आज अन्तक ने घेरा।
मुझे न पाकर रोवेगी माँ, तू, रह-रहकर,
अम्ब! पुकारेगा अब तुम्हे कौन माँ कहकर।
आज पहुँच - कर लेंगे जब ये विहग बसेरा,
पूछेगी मम - प्रिया, कहाँ है प्रियतम मेरा।
"वह तो मारा गया" दुखद उत्तर यह सुनकर,
मर जायेगी स्वयं प्रिया रो, रो, सिर-धुनकर।
माता पिता-विहीन, हाय! लघु-लघु-शिशु मेरे,
हो जायेगें स्वयं बुभुक्षित यम-के चेरे।
खुली न अब तक आँख, न वे कुछ खाना जाने,
हैं हाँ, निरे अबोध न आना, जाना, जाने।
ओह! एक के मरे, सभी वे मर जायेगे,
हुए व्यर्थ उत्पन्न, न कुछ भी कर-पायेंगे।
रोदन करने लगा विहग, यम-भय का मारा,
फूट दृगों - से बही कपोलों - पर जल-धारा।
चीख, चीख, निस्संज्ञ हुआ वह कर - पञ्जर - में,
दीन-रुदन सुन इधर दया उपजी, नृप-उर में।
करुणा-नद बह चला, नृपति-भी साथ बहे थे,
आँखे जल-से भरी, हंस - को हाथ गहे थे।
टप, टप, पड़ने लगे अश्रु, खग-पर झर-झर-कर,
हुए सिद्ध - से, जल-समान ही वे मूर्च्छा-हर।
हुए प्रथम अति चकित नृपति सुनकर नर-वाणी,
विस्मयता - से भरी धरा तब मन में मानी।
बोले फिर मृदु वचन हंस! तुम क्यों डरते हो,
होगा कुछ भी अहित न, रो, रो क्यों-मरते हो।

मै हूँ नृप नलराज निषध-जनपद का स्वामी,
दीन - दुखी का मित्र, न हूँ दुष्पथ-का गामी।
दर्शनार्थ ही किया अरे ! तुमको धृत मैने,
तव परिजन से किया न तुमको अपहृत मैने।
है न मुझे कुछ चाह स्वर्ण तेरा पाने की,
और न इच्छा तुझे मारकर ही खाने की।
देख तुम्हारे पख स्वर्ण के कुछ विस्मय-था,
पीडित तुमको करूँ, न यह मेरा आशय था।
उड - जा विहग यथेच्छ ! छोडता हूँ मै तुझको,
जिह्वा - लोलुप समझ अहेरी मत तू मुझको।
राजहस को भला कष्ट क्यो - पहुँचाऊँगा,
मुझे भोज्य की कमी न, क्यो ! तुमको खाऊँगा।
यों-कह नृप ने तभी हस कर-मुक्त किया वह,
फैलाकर निज हाथ, गगन - मे उडा दिया वह।
सुधा - वचन से सिक्त, छुटा-वह पक्षी सहसा,
देख स्वय को मुक्त, पुनर्जीवित-सा रहँसा।
भर - कर एक उडान, कूज, कुछ नभ-मे जाकर,
नृपति-स्कन्ध पर बैठ-गया वह फिर से आकर।
सज्जन-पर विश्वास, शीघ्र - ही हो जाता है,
अहिताशका - नाश, शीघ्र - ही हो जाता है।
करके ग्रीवा वक्र, विहग बोला - मृदु-वाणी,
करते अहा - निवास धरा - पर तुमसे प्राणी।
लेकर भार अनन्त, इसी से ठहर - रही है,
दीन दयालु - विहीन न, सचमुच पुण्य - मही है।
मै, ऋषियो के पास आश्रमो-मे रहता था,
सुनता, ऋषि उपदेश, स्व-मन की भी कहता था।
प्राय ऋषि मुनि सभी दयालु प्रकृति से होते,
बिना याचना स्वय, दुखी-के वे दुख खोते।

सुर, किन्नर, नर सभी वहाँ पर आया करते,
ज्ञान, राग, वैराग्य, सभी के झरने झरते।
सरस्वती ने स्वयं दया कर मुझे पढाया,
संसृति - का अधिकांश ध्यान से ज्ञान सिखाया।
मैं, पा - ऋषि - आदेश, विज्ञ-हो चला वहाँ - से,
आश्रम ऋषि - का बहुत दूर है भूप ! यहाँ से।
अब मै, बना गृहस्थ, सुखद मेरा परिजन है,
शिशु - क्रीडा से कलित नीड, हमी - सा धन है।
सोने के है पख, इसी - से दूर बनो - में,
रहता हूँ निर्बाध, उधर तरू-गुल्म-घनो मे।
पाकर, कृशा निरीह, हरिग उसको - खाते है,
कृश - मीनो - को सबल मीन भी खा जाते है।
यों, निर्बल - को सबल सदा - खाया करते है,
इसीलिए वे सहज - दण्ड, पाया करते है।
विहित नही है पाप, मारने - में यो इनके,
आखेटक - के लिए सभी - ये है, ज्यो - तिनके।
मुझे मारकर भी न नृपति तुम थे अन्याई,
फिर भी जीवित छोड अपार दया दिखलाई।
किया प्राण - का दान, आपका उपकृत - हूँ मै,
क्या - सेवा कर - सकूँ, अधम - साधन-हृत हूँ मै।
पर, यदि कुछ कर सका, प्राण देकर भी अपने,
तो, हूँगा कृतकृत्य सुखद होगे कुछ सपने।
आज्ञा दो कुछ मुझे, शीघ्र मेरे उपकारी,
कुछ तो लघु कर सके भार, यह जन - आभारी।
सुधा वचन सुन, कृतज्ञता - से प्लावित - खग - के,
उमड़ी - गद - गद हुए हृदय में दया सुभग - के।
और, विहग - से कहा मित्र ! अपराधी हूँ मै,
है लज्जा का विषय तुम्हें क्या - आज्ञा दूँ मैं।

भद्र ! व्यर्थ ही पकड सताया तुमको मैने,
सोते थे सुख-नीद जगाया तुमको मैने।
इस पर भी इस भॉति, भद्रता है दिखलाई,
वास्तव मे तुम राजहस हो सच्चे भाई।
नर-वाणी से युक्त मित्र ! यो, तुमको पाकर,
समझा, मैने तुम्हे दिव्य-ही हस-गुणाकर।
पाकर भी यो-कष्ट, किया-आभार प्रदर्शित,
देख तुम्हारे भाव, हुआ मेरा मन-हर्षित।
तुम्हे न वधकर, दया दिखाई कैसे मैने,
जो जैसा था दिया उसे, वैसा ही रहने।
उचित कहाँ था मुझे, तुम्हारा जीवन-हरना,
राजा-का तो कार्य, प्रजा की रक्षा करना।
श्रेष्ठ-राज्य-मे, दीन-हीन कब दुख पाते है,
निरपराध-जन, वहाँ सताये कब जाते है।
मैने तो कर्त्तव्य-किया, जो मुझे उचित है,
और, इसे कह रहे सखे ! तुम कि "यह सुहित है।
यह न प्राण-का दान, भद्र ! यह मानवता है,
हिसा-से परिपूर्ण भाव भी दानवता-है।
फिर भी, यदि तुम आज चाहते हो कुछ करना,
तो, यह आग्रह, मुझे उचित ही है सिर-धरना।
"क्षमा करो ! तुम मुझे यही आज्ञा है मेरी,
मॉग-रहा है दया, दया-से शून्य अहेरी।"

"हे नृप ! है क्या-मूल्य भला, मेरे प्राणो का,
क्रीड़ा-साधन-मात्र, तनिक यह बलवानो-का।
फिर जिसने जो प्राप्त किया, वह उसका ही है,
जीवित-मुझको छोड़, दया ध्रुव ! तुमने की है।

पहले यह लघ-जीव, आपका काम करे कुछ,
तभी धन्य, जब उपकारी का कष्ट हरे कुछ।
क्या - कर-सकता काम, अकिञ्चन प्राणी है यह,
झिझक व्यर्थ ही, सौम्य ! आपने मानी है यह।
मै, वाणी - के कार्य, सभी कुछ कर-सकता हूँ,
सन्देशा तो श्रेष्ठ नरा - मे हर - सकता हूँ।
जहाँ न नर जा - सके, वहाँ - भी जा - सकता हूँ,
कल्प - वृक्ष - के कुसुम कहो तो, ला सकता हूँ।
हों यदि कोई रुष्ट, तुष्ट-कर दूँ मै उनको—
जाकर हे नृप ! अभी, तुम्हारे गाकर-गुण-को।
जला - रहा यदि विरह, किसी का तुमको मन-मे,
मधुर - मिलन में, उसे बदल दूँ तो मै क्षण - मे।
पूर्व-राग उत्पन्न-कराने मे दीक्षित हूँ,
अधिक-कहूँ-क्या-स्वय, भारती - से शिक्षित - हूँ।
कोई भी हो कही, करूँ यों, मुग्धा-पन मे,
नल - मे हो अनुरक्त, अन्यथा जले अनल - मे।
नर-किन्नर, गन्धर्व, सुरों-के भी घर - जाकर,
करूँ, दूत - का कार्य, नायिका को मै पाकर।
यद्यपि आप समर्थ, सभी कुछ कर सकते है,
पर - क्या, निज सन्देश, स्वय - ही हर सकते है।
हुए चकित, अति भूप, हस - की सुन मृदु - वाणी,
मन - मे सोचा, है कृतज्ञ कितना, यह प्राणी।
सुन उसका पाण्डित्य, क्षणिक वे रहे ठगे-से,
करके मुख से आह ! किन्तु वे तुरत जगे-से।
हुआ भीमजा-स्मरण, हस - की सुन, मधु - बाते,
नृप - को सहसा हुई, असह्य, विरह - की घाते।
पा - अवसर अनुकूल सफल - लक्षी यों बोले—
हो तुम मेरे मित्र, आज से पक्षी भोले।

यदि कर सकते काम सखे ! तो इतना करदो,
मैं हूँ सचमुच तप्त, ताप यह मेरा हर - दो।
आर्य - भूमि - को सखे ! आज स्वर्गत्व मिला है,
कल्प-वृक्ष का कुसुम, यही पर आज खिला है।
है वह प्रान्त विदर्भ, भीम है वहाँ नृपतिवर,
कुण्डिनपुर है रम्य राजधानी अति सुन्दर।
रूपवती है सुता उन्ही नृप - की दमयन्ती,
नारद ऋषि ने कहा - कि, वह है अति गुणवन्ती।
सखे ! उठाकर कष्ट वहाँ तुम सत्वर जाओ,
करके उससे प्रश्न यही उत्तर ले आओ।
भाग्यशील वह कौन ! वरेगी वह खुद जिसको,
क्या - गुण देख पसन्द करेगी वह खुद किसको।
कौन बनेगा देव ! उसे पृथ्वी पर पाकर,
है पुण्यात्मा कौन ! श्रेष्ठ नर-वंश - दिवाकर।
कह देना तुम, एक अकिञ्चन नल - अज्ञानी,
चाह - रहा है तुम्हे बनाना अपनी रानी।
कर, कर, तुमको याद दुखी रोता रहता है,
वृश्चिक-दशन - तुल्य, हृदय - मे, रूज सहता है।
कर यह मधुरालाप, लौट सत्वर तुम आना,
उसका उत्तर सखे ! मुझे आकर बतलाना।
है उत्तर अवलम्ब वही, मेरे जीवन का,
भैमी - ही आधार, मित्र ! है नल के तन का।
उसे न पा, आधार - हीन यह बह जायेगा,
डूब - मरेगा कही, पार कैसे, पायेगा।
उसके निकट खगेश ! युक्तियो - से तुम जाना,
कठिन न कुछ भी मित्र ! खोज विश्रुत की पाना।
जब वह वीणा लिये बजाती हो उपवन - मे,
मान - रही हो मोद, गीत गा, गाकर मन - मे।

पक्षी, आकर वहाँ वेग - से भरते - होंगे,
श्रवण - सुधा का पान मुदित - मन करते होगे ।
निकट पहुँचना विहग ! तभी तुम धीरे चल कर,
होता नही निराश मुदित से कोई मिलकर ।
और, पहुँच - कर तभी, उसे सन्देशा - देना,
ओ नाविक ! नल - तरी, कुशलता - से तुम खेना ।
हूँगा उपकृत स्वय, न तुमको भुला - सकूँगा,
माँगोगे यदि प्राण, मुदित हो वह भी दूँगा ।"

"ठीक ठीक हे देव ! आपकी है यह वाणी,
सचमुच भैमी योग्य तुम्हारे होगी रानी ।
है वह अति कमनीय श्रेष्ठ सुन्दरियो - मे भी,
उसका ऊँचा स्थान आज सुर - परियो - मे भी ।
एक दिवस मै गया उसी-के क्रीडा-सर, पर,
देखी मञ्जुल - मूर्ति, तभी वह आँखे-भर, भर ।
है दमयन्ती वही जानता हूँ मै उसको,
विश्व - सुन्दरी श्रेष्ठ, मानता हूँ मै उसको ।
दूँ - सन्देशा उसे, बात ही यह है कितनी,
सोचा होगा शक्ति, विहग - मे है ही इतनी ।
जाता हूँ मै, वहाँ अकेले उसको पाकर,
कर दूँ तुम पर मुग्ध, तुम्हारा यश गा गाकर ।
करूँ - उसे अनुरक्त, कि तुम बिन रह न सके वह,
क्षण-भर भूप ! वियोग, तुम्हारा सह न सके वह ।
जिस दिन भी वह स्वयवरा होगी नृप - बाला,
तो, ध्रुव ! शोभित करे तुम्हे देकर वर माला ।
बस अब आठो याम, तुम्हारा स्मरण करेगी,
तुम्हे छोड़ कर नही और का वरण करेगी ।

उठा न देखे आँख, बडे भूपति - को भी वह,
ठुकरा - देगी, निकट खडे - सुरपति - को भी वह।
समझो, निश्चय भूप! कि दमयन्ती - अभिरामा,
होकर ही अब - रहे, आर्य - नृप - नल की वामा।
बिना प्रतीक्षा - किये, विहग नृप - के उत्तर - की,
नभ मे गाता - उडा, ताल दे - देकर पर की।
यह है लघु - सा जीव, कार्य - है दुष्कर भारी,
कर सकता या नही, सोचते धन्वाधारी।
पर, है यह अति चतुर, सुधा-सी इसकी वाणी,
कौन न होगा मुग्ध! जिसे सुन सहृदय प्राणी।
सोच - रहे थे भूप तभी, सहचर - गण आया,
उस रजनी विश्राम, वही - पर सबने पाया।
जाता - था उस ओर, उडा पक्षी अम्बर - मे,
वायु - वेग था भरा, आज उसके युग - पर मे।
नीचे चलता कभी, कभी - ऊँचे चढता था,
घन में कभी अदृश्य, कभी बाहर कढता था।
जाता था वह चला - हेम - तारा, टूटा - सा,
मणि - आभूषण किसी किन्नरी - का छूटा - सा।
दमक - रहा दामिनी तुल्य वह काले घन - मे,
खिंची निकष पर स्वर्ण-रेख - सी नील गगन मे।
देखी अटवी कही नदी - नद, झरनो वाली,
मिली कही गिरि - भूमि, सुखद धारे हरियाली।
आया, देश विदर्भ सस्य श्यामलता - धारे,
कुण्डिनपुर बस रहा नर्मदा नदी किनारे।
दूनी शोभा - रही, सरित - से कुण्डिनपुर - की।
आती जिसको देख विवश थी स्मृति सुरपुर की,
भरा पूर्ण तारुण्य - मानिनी - सी मदमाती,
अंक समेटे - सलिल, सरित सर-सर थी जाती।

छू - छूकर ही युगल - तटो - को जल बह जाता,
पकड सका कब तीर ! निकट से छू - रह जाता ।
मानो, नृप यश द्रवित - हुआ छल - छल बहता था,
द्रव - होकर भी सुयश-गीत, कल-कल कहता-था ।
था, बालुका - प्रसार, सुखद उसके - तीरो - पर,
करते हस - विहार, सुखद उसके - तीरो पर ।
देखे, पथ - सब ओर पुरी - से बाहर जाते,
उदयोन्मुख - रवि - रश्मि - जाल की याद दिलाते ।
आते - जाते हुए जनो - से, भरे - हुए थे,
मानो, सारा भार पुरी - का, धरे - हुए थे ।
चहल पहल सब ओर, सभी जन कार्य - निमज्जित,
वैभव प्रगटा रही पुरी, परिपूर्ण सु-सज्जित ।
कोलाहल बढ, ठौर न जब भू - पर पाता था,
तब वह मानो, विवश गगन - मे चढ जाता था ।
भव्य दिव्य थे भवन परम सुषमा के सागर,
स्वर्ण - पताका फहर रही थी लहर - लहर कर ।
नई वधू-सी, सजी-धजी नगरी थी सारी,
इन्द्रपुरी हो रही स्वय उस - पर बलिहारी ।
पीन पयोधर ढके - वस्त्र - से निकल रहे थे,
खिले - चन्द्रमुख, बाल व्याल से मचल रहे थे ।
था अपना ही भार, न उसको भी सह - पाती,
रूप - गर्विता नरी, तरी - सी तिरती जाती ।
वे सब सज धज, भव्य - विभव प्रकटित करती थी,
बरबस दर्शक - दृष्टि, समाकर्षित करती थी ।
अर्चित होकर कही घरो - मे पुरुषो - द्वारा,
धेनु - जुगाली - व्यस्त, कही कुछ चरती चारा ।
होता घन्टा - नाद कही - पर देव घरो - मे,
गाते है द्विज वेद कही पर सधे - स्वरो - में ।

श्वेत चमकता हुआ पताका-को फहराता,
वह सबसे सुविशाल नृपति-की कीर्त्ति जताता।
दृग्गत खग-को हुआ, भीम का भवन मनोहर,
उपवन-मे था बना, जहाँ-पर भव्य सरोवर ।
देख उसे, तब हुआ मुदित खग अति-ही मन-मे,
चक्र तुल्य वह उतर पडा नृप-के उपवन मे ।
आती थी झकार, गान-की राज-सदन से,
जिनको, सुनकर रसिक मनुज हो व्यथित-मदन-से।
कुछ क्षण, कर विश्राम हस ने विस्तृत-उपवन—
देखा छवि-से पूर्ण, हुआ अति आह्लादित मन।
सहसा चिन्ता जगी सोचकर कार्य-महत्ता,
कहाँ नृपति का कार्य, कहाँ मेरी लघु सत्ता।
कर्म-शील के लिए, किन्तु सम जीना मरना,
सरल और क्या-कठिन, कार्य करना सो करना।
देख, स्व-कार्य अपूर्ण, सुजन चिन्तित रहते है,
वक्ष सिह-सम तान, दुखो-को वे सहते है ।
कर्म वीर तो कर्म पूर्ण कर ही हटते है,
देव 'भाग्य' का मन्त्र, पतित-कायर रटते है।"

गगन-से रवि-को जाता देख,
हुए सहसा सब कमल स-शोक ।
निशा-का कर केवल अनुमान,
विरह-स्मृति से कम्पित थे कोक।

वह विहग, प्रभात-प्रतीक्षा-मे,
हो मग्न, स्व-भाग्य-परीक्षा-मे।
रजनी-का जाना देख-रहा,
तरु-की शाखा-पर बैठ वहाँ।

चतुर्थ सर्ग

चल-पड़ी रात, नभ-वदन हुआ पीला-सा,
पृथ्वी-अञ्चल-पट-हरित, हुआ गीला-सा।
वह सुअभिसारिका गई, चिन्ह ये छोडे,
हत-प्रभ से तारे, उसे-पकडने दौडे।
मूर्च्छित-सा विधु हो-गया न यह सह पाया,
आ-पहुँचा मन्द-समीर, देख मुस्काया।
वह व्यजन डुलाने लगा, गन्ध-से सीचा,
हो विवश, तिमिर ने हाथ धरा से खीचा।
उदयचल-पर रवि चढे, दृष्टि दौडाई,
तब गीली आँखे उन्हे, धरा-की पाई।
मुख-पोंछ-दिया, कर-बढा, धरा-मुस्काई,
खोयी-सी अपनी शक्ति, शीघ्र ही पाई।
गाते-पक्षी, जन-काम-मग्न सब दीखे,
आलस्य कहाँ! वे स्फूर्ति-भरे अब दीखे।
खिल-रहे फ़ूल सब हास-गन्ध बिखराते,
उनके ऊपर है, मुदित मधुप मँडराते।
छा-रही छटा सब ओर राज-उपवन-मे,
मदमाता-सा लग-रहा भरा-यौवन-मे।
वह सखी समावृत, इधर भीमजा आई,
उपवन की शोभा देख उसे शरमाई।
भैमी-विधु-मुख खिल रहा, छटा छुटती थी,
घिर घिर केशों की चपल घटा घुटती थी।
कर-कमल वायु-सा उसे हटा देता था,
तब मुख दामिनी-समान-छटा-देता-था।

तन पर सुन्दर परिधान सुशोभित होते,
मँडराते मुख-पर भ्रमर सुलोभित होते।
कंकण, खन खन कर रहे, मञ्जु कर हिलता,
उसका आगम-आभास स्वय यो मिलता।
गौरव से भरती धरा, पॉव, जब पडते,
भू-को दे अपनी छाप, अगाडी बढते।
वह इधर उधर अवलोक, चली जाती थी,
अह, हेमलता-सी लहर, भली-जाती थी।
वह देवलोक - की कान्ति, गमकती-फिरती,
उपवन-घन मे, दामिनी, दमकती-घिरती।
भैमी-की थी यह नित्य भ्रमण-की बेला,
करती वह विधु-सी वहाँ पवित्र-उजेला।

"हे सखी ! तनिक वह लता-कुञ्ज तो देखो,
पत्रो-से आवृत, कुसुम-पुञ्ज तो देखो।
उभरे ये स्तन, तारुण्य लता पर छाया,
उसने यद्यपि यह अङ्ग सयत्न छिपाया।
पर, छिपा-सकी वह कहाँ फूट-सा पडता,
पाकर यौवन मकरन्द, आप-ही झरता।
तुम भी ऑचल-मे छिपा-रही कुछ दीखा,
क्या-तुमने यह आवरण लता-से सीखा।
तुम कुशल रही, जो छिपा सकी हो पूरा,
रह गया, लता-आवरण परन्तु अधूरा।
मुस्करा पडी तुम ! देखो, लता खिली वह,
इससे मधुपो-की भीड, समोद मिली वह।
मुँहजले मधुप, मकरन्द-पान करते हैं,
चख रहे लता-सौन्दर्य, गान करते हैं।

जब हो अशेष मकरन्द, पुष्प-मुरझाये,
फटी आँखो तब लता न इनको भाये।
यह है पौरुष-का हाल विश्व-मे आली,
कह-रही यही वह, शुष्क सुमन-की डाली।
केशिनी हुई चुप, नेत्र उधर प्रेरित-कर,
अमिताभा छिटकी इधर भीमजा-मुख पर।"

"केशिनी न है यह बात, तुम्हे क्या सूझा,
पौरुष-का कुछ भद्रत्व न समझा-बूझा।
रजनी-भर मुँदता कभी अली, फलो मे,
बिध-जाता, कभी निरीह अली शूलो-मे।
अपने प्राणो पर खेल, लता को पाता,
करता है इसको मुग्ध, गीत-मधु गाता।
पाकर अलि का सर्वस्व, स्वरस ये देती,
यह क्या-देना! जो मात्र परस ये देती।
देखो, अलि का भद्रत्व, लता-को छूना—
कर देना उसे प्रफुल्ल, स्वय से दूना।
सखि! दिन दिन लता-विकास चाहते, ये-तो,
मधु लता-वदन-पर हास चाहते ये-तो।
करते है ये कब हानि पुष्प खिलने मे,
अलि होते-पीडित-सदय, लता-हिलने मे।
ले, स्वरस-मात्र, गौरव प्रदान करते है,
अपना सब स्नेह उँडेल उसे भरते है।
क्या-काम आय मकरन्द! न यदि ये लेवें,
है व्यर्थ-लता-सौन्दर्य, न यदि ये सेवें।"

"सचमुच सुन्दर दमयन्ति! तुम्हारा कहना,
पर, यो पौरुष-अनुरक्त तुम्हारा रहना।

क्या-अभिव्यक्ति कर रहा, मुझे बतलाओ !
अच्छा ! धीरे-ही कहो कान-मे, आओ !
यो-सुनकर भैमी हुई तभी लज्जित-सी,
जिससे आँखे सविशेष हुई मज्जित-सी।
पाटल यो-हुए कपोल रक्त-को पाकर,
सहसा सिमटी सब लाज वही ज्यो-आकर।
कुछ कहने भैमी-चली, रूकी, पर सहसा,
वह हेमलता-सी लचक, झुकी, पर सहसा।
अति चकित भ्रमित-सी खडी केशिनी बोली—
थी भुजा नाल-सी सधी, चिटकती चोली।

"देखो, देखो, हे सखी ! उधर वह कैसा !
बैठा-है सुन्दर-हस न देखा जैसा !
सुनकर भैमी थी चकित, ठिठक-कर-थोडी,
इगित-पर मृग-सी दृष्टि, विवश-हो-दौडी।
सम्मुख बैठा था हस, किये मुख नीचे,
योगी-सा ध्यान-निमग्न, दृगो-को मीचे।
कुछ आसपास की उसे न सुध-सी लगती,
पर चमक रहे थे पख, ज्योति-सी जगती।
मुख-पर उभार आश्चर्य - भरी - सी रेखा,
आपाद - हस, विस्मित-हसी ने देखा।
वह दिव्य-दृष्टि जा पडी दिव्य तन पर जब,
रह गई प्रकृति-भी स्तब्ध विमोहित-सी तब।"

"है अहो भाग्य सखि ! आज हमारा कितना,
क्या-हमने सचमुच पुण्य किया है इतना।
यह राजहस कब, कहाँ, दीखता किसको,
कृतकृत्य हुई हम आज, देखकर इसको।

सोने के इसके पंख खींचते मन को,
होगा न प्रफुल्लित कौन ! देख इस धन को।
कितना अतुलित - सा सौख्य दृगों-मे भरता,
यह सदा दीखता रहे, यही मन करता।
आओ, जैसे भी बने इसे हम रोके,
रखकर पिँजडे मे बन्द, सदैव विलोके।
लेकर विटपो-की ओट स्व-पाद उठाना,
हो जाय न ध्वनि कुछ कही मन्द-गति आना।
सखियो-को लेकर चली, भीमजा चुप-सी,
उस पद्म-हस-पर आँखे लगी मधुप-सी।
हो गया किन्तु खग सजग, तनिक ध्वनि सुनकर,
बढ गया इसी से और छद्म कुछ गुनकर।
तब सखियो-से नृप-सुता, प्रेम से बोली—
थी आँखे आशा-भरी, मृगी-सी भोली।
सब साथ रही तो हाथ न यह आयेगा,
ध्वनि होगी कुछ अनिवार्य भाग जायेगा।
अच्छा छोडो ! तुम मुझे, लौट सब जाओ,
वे - खिले-हुए है पुष्प उन्हे चुन लाओ।
मत आओ मेरे साथ अकेले जाऊँ,
जैसे भो हो यह हस पकड कर लाऊँ।
सुन, विवश सखी चल पडी पुष्प-चय करने,
वैदर्भी-भी इस ओर, स्व-विस्मय-हरने—
बढ़-चली, पूर्व-की भाँति, अनध्वनि गति-से,
रह-गईं तनिक-सी दूर, कि, जब खग पति से।
तब तनिक कूदकर विहग बढा कुछ थोडा,
भैमी ने निकट विलोक, न साहस छोडा।
ज्यों-ज्यो, कुछ भैमी बढे, हस-भी वैसे,
बढ़ता था आगे - हो न सके धृत जैसे।

पद-पद पर 'कर-गत' समझ भीमजा-पीछे—
जाती, लाता हो हस, उसे ज्यो-खीचे।
वह छाया की ही भाँति, चली-जाती थी,
कर, बार बार भी यत्न, छली-जाती थी।
पर, होती थी न निराश, न धीरज हारा,
सोचा, पद-पद पर सफल कि, श्रम अब सारा।
भैमी - के मुख-पर जगे स्वेद - कण ऐसे,
प्रात कमलो-पर लगे, ओस-कण जैसे।
चलते, चलते, खग पहुँच-गया निर्जन-मे,
तरु-गुल्म-लता से पूर्ण, सघन-उपवन-मे।
अब, श्वास तीव्र चल रहा, थकित थी बाला,
इस खग-कौतुक को देख, चकित थी बाला।
सहसा जा-बैठा, हस, कूद शाखा-पर,
पानी-सा फेरा, भीम-सुता-आशा-पर।
करके उसको अति-चकित-सुधा-सी वाणी,
यो, कहने लगा-खगेश, सुनो कल्याणी!
साधारण समझो मुझे न, दिव्य विहग हूँ,
शारदा-अम्ब-को वहन किया, वह खग हूँ।
क्या-करो, सुमुखि! तुम व्यर्थ पकड कर, मेरा,
मै, आया था इस ठौर क्षुधा-से प्रेरा।
सुजनो-को करके प्राप्त सौख्य-मिलता है,
ज्यो-रविकर का पा योग, कमल खिलता है।
भोजन तो मिलना दूर हुआ अब आकर,
तुम मुझे पकडने चली अरी! हरसाकर।
शिशुता ने हो पर विवश किया यह तुमको,
चचलता ने ही भाव दिया यह तुमको।
अन्यथा, शान्त हो तुम्ही, विचारो मन-मे,
कर गई भूल तुम बडी सुनयने! क्षण-मे।

हम पृथ्वी-जल-थल-अचल और है नभचर,
हमको है प्राकृत प्राप्त, पक्ष-ये-सुन्दर।
तुम केवल भूचर शुभे! अवश अबला हो,
कोमल हो अति सु-कुमारी, इन्दु-कला-हो।
चाहा, फिर भी इस-भाँति, जकडना खग-को,
पदचर को सभव कहाँ! पकडना खग-को।
भद्रे! न उचित व्यापार पकडना-मुझको,
पक्षी को बन्दी बना, मिले क्या-तुझको।'

"मै तुम्हे पकड हे हस! न कुछ भी करती,
केवल निज-विस्मय, तुम्हे देखकर हरती।
अवलोक स्वर्ण-के पख बढा जो मुझको,
तुमको पाने का नशा चढा जो मुझको।
सचमुच है मेरी भूल, किया जो मैने,
खग! व्यर्थ तुम्हे यह कष्ट दिया जो मैने।
तुम क्षमा करो, अब मुझे विनय यह मेरी,
इतना कहकर सुन्दरी भूमि-पर, हेरी।
लज्जा, भय, विस्मय, साथ जगे सब मन-मे,
खग-धृत करने का मोह, लुप्त था क्षण-मे।"

"तुम समझ न पाई अरे! भेद यह इतना,
बाले! मुझको यह देख, खेद है कितना!
दीपक देता मसि उगल, तिमिर को खाकर,
पानी भी मुक्ता बने, सीप को पाकर।
ससर्गज ही तुम दोष-गुणो को जानो,
बस, इसी भाँति तुम देवि! मुझे भी मानो।

मोती ही मैने चुगे, सदा-से खाये,
बस, इस प्रभाव से स्वर्ण-पख उग-आये।
माँ-सरस्वती की दया, देवि ! यह जानो,
इसलिए, न अचरज शुभे ! हृदय-मे मानो।
हाँ-मुझे पकडना व्यर्थ, बताता हूँ मैं,
जो तुम्हे पकडना उचित जताता हूँ मै।
सुन्दरि ! नल-नृप-का हाथ-पकडलो जाकर,
हो जाओ सुमुखि ! कृतार्थ उन्हे तुम पाकर।
अगणित है उनके भृत्य हस मुझ जैसे,
रहते है उनके पास, विहगवर ऐसे !
देखोगी बाले ! उन्हे हाथ-मे लेकर,
तुम पूर्ण कराना, उन्हे अनुज्ञा देकर।
हो गई दीनता नष्ट, दान-से नल-के,
हो गई, मूर्खता-दूर, ज्ञान-से नल-के।
भट उस सा कोई और न है अब जग-मे,
है अरि-कटक, अवशेष न उनके मग-मे।
विधि-से है अगणित प्राप्त श्रेष्ठ गुण उनको,
गिन-सकता कोई कहीं भला-उडु-गण को।
विद्या, उदारता, दया, और मन-रजन,
वे-है सब मे ही प्रथम, दीन-दुख-भजन।
सुनकर, नल नृप-का नाम हुई तुम लज्जित,
आपाद हुईं सकोच-सिन्धु-मे मज्जित।
पर, अनुचित है यह आज, तुम्हारी लज्जा,
करती है कभी अनिष्ट कुमारी ! लज्जा।
इसलिए, न अब सकोच करो, तुम इसमे,
जीने-मरने-का प्रश्न निहित है जिसमे।
हाँ, जीवन सार्थक तभी, वरो ! जब नल-को,
हो जाय तृषा-सी शान्त, प्राप्त कर जल को।

मणि-काञ्चन का ही योग सत्य तब होगा,
नल-दमयन्ती सयोग, कि अब, जब होगा ।
यदि पा न सकी तुम उन्हे, विफल है जीवन,
यह विफल दिव्य सौन्दर्य, विफल यह यौवन ।
तुम सुन्दरियो मे श्रेष्ठ, आजकल जैसे,
है वीर, धीर, सौन्दर्य - पूर्ण, नल वैसे ।
विधि ने सुन्दरता - सिन्धु मथा, यो - जानो,
निकले जिसमे दो रत्न, तुम्ही, यो - मानो ।
फिर यदि वे दोनो मिले अहा-क्या कहना,
कर - देगा भू - को स्वर्ग, तुम्हारा रहना ।
माना कि, इन्द्र भी बली, गुणी, सुन्दर है,
अनुपम है विद्यावान, सुरो - मे वर है ।
हो जायेगा तैयार तुम्हारे हित वह,
पर, सोचो, सुन्दरि! तुम्ही न है समुचित यह ।
किन्नरी, अप्सरा, शची, अनेको रानी—
रहती है उनके निकट, स्वय वह मानी ।
दो दिन भी तो तुम मान न उससे पाओ !
हे शुचिस्मिते ! वर उन्हे सदा पछताओ !
है यद्यपि योग्य धनेश किन्तु व्यवसायी,
वह कार्याधिक - से तुम्हे न हो सुखदायी ।
सौंपो, यदि अपना हाथ वरुण-के कर-मे,
तो, वह रक्खेगा तुम्हे मृत्यु-के घर-मे ।
है नक्र कही पर मीन, काल से फिरते,
चल होकर मानो अचल, सिन्धु-मे तिरते ।
क्या - वहाँ बास तुम भला-पसन्द करोगी
अन्तक-क्रीडा-सी देख, न धैर्य धरोगी
रह गया अग्नि, जाज्वल्यमान है वह तो
उसको वरना-ध्रुव, प्राण-दान है वह तो

यम है अति ही उद्दण्ड, क्रूरता-वाले,
सुनकर आर्त्तों का रुदन, मरोगी, बाले !
है अन्य देव, पर वे न उच्च-पद-वाले,
आकर्षक भी तो-नही, तदपि मद वाले।
सम्मानित होना वहाँ, तुम्हे दुष्कर है,
हे नरी ! तुम्हारे लिए योग्य-वर-नर है।
जिसमे नल तो नररत्न, भला फिर-वैसा,
पाओगी अवसर कहाँ मिले वर ऐसा।
मै, मान रहा हूँ लाज तुम्हारा गहना,
पर, उचित न, करके लाज मौन अब रहना।"

"हे हस ! जान यह पडा, गुणाकर हो तुम,
चातुर्य-पूर्ण, खग-वश-दिवाकर हो तुम।
यह अहो भाग्य ! जो आज मिले तुम मग-मे,
तुम जैसा पक्षी-सुना न मैने जग-मे,
हे विहग ! धन्य तुम, धन्य तुम्हारी-वाणी—
कर्णों-को करती तृप्त, सुधा-से सानी।
तुम अनुगृहीत हो स्वय शारदा-माँ-से,
तुमने पाया भव-पार, पारदा-माँ-से।
हाँ-तुमने जो कुछ कहा-मानती हूँ मै,
कन्याओ-के भी भाव जानती हूँ मै।
एकान्त-प्राप्त-कर, निज भविष्य-का चिन्तन,
वे करती, कैसा मिले, हमे जीवन-धन।
उनका मन नाना-दिव्य-कल्पना करता,
पर, अपने-मे ही, उन्हे-सँजोये रखता।
कहती वे अपने भाव सही-कब ! किससे,
तुम पूछ-रहे हो प्रश्न वही-अब मुझसे।

मै तो हूँ गड - सी रही लाज - के मारे,
अचरज जो, सम्मुख - खडी देह-को धारे।"

"है योग्य तुम्हारे देवि ! तुम्हारा कहना,
नारी को पडता आह ! विवश सब सहना।
इस मृत्यु-लोक मे सुमुखि ! जीव-गण-सारा,
पुरुषो ने वश-मे किया, कुटिल-मति द्वारा।
देखो, महिला भी आज विवश है कैसी,
कहती न हृदय-का भाव अवश तुम ऐसी।
पर, यही विवशता तुम्हे चढाती ऊँचा,
पुरुषो से भी बहु-गुण, बढाती ऊंचा।
पशु और नरो की, एक भेदिका लज्जा,
कुल वधुओ की है सर्व श्रेष्ठ यह सज्जा।
इसलिए, न मै कह रहा कि, लज्जा छोडो,
तुम अपनी वह अनिवार्य, सुसज्जा छोडो।
पर, उचित जहाँ-हो वही लाज-पट तानो,
मै, तो पक्षी हूँ मुझे न तुम नर मानो।
फिर लज्जा की भी बात न है कुछ इसमे,
अवलम्बित, जीवन-लता तुम्हारी जिसमे।
मानो, तुमने ही ठौर जिसे दी मन-मे,
कर-दे वह अस्वीकार तुम्हे यदि क्षण-मे।
तो, भला, विचारो तुम्ही दशा हो कैसी !
तुम हो साधारण नरी न, औरो जैसी।
निज वश - रीति अनुसार सती ही हो तुम,
तो क्या-फिर-सहसा प्राण न तज दोगी तुम।
हो मुझे विदित कुछ भेद तुम्हारा देवो !
तो, सम्भव मुझसे बने, सुहित कुछ देवो !

उस जन के जाकर निकट, अभी मै क्षण-मे,
कर-दूँगा, तुम पर मुग्ध, विचारो मन-मे।
यो कहकर था तब मौन विहग, क्षण-भर को,
पकडे थी भैमी इधर स्व-कर से कर-को।
नीचे दृग थे कुछ चाह रही-थी कहना,
कह सकी न, पर था भार मौन-भी सहना।
दौडाकर मुख-पर रग विवश फिर बोली—
थी पदागुष्ठ पर आँख, मृगी-सो भोली।
हे विहग! श्रेष्ठ है निषधराज यदि जग मे,
वे प्रथम गण्य सौन्दर्य, सुयश, बल-मग मे।
अमरो-द्वारा भी मान आज वे पाते,
विरुदावलि जिनकी राजहस भी गाते।
तो, है मेरा सौभाग्य अकिञ्चन पर वे—
कर दया करे स्वीकार तुच्छ-का कर वे।
उनकी दासी बन-सकूँ, भाग्य अपने पर,
हो-रहा नही विश्वास, सुखद-सपने पर।"

"कटु-सिता, शीत को तप्त, लवण को मीठा,
सुन्दरि! जो यह उद्गार करेंगे सीठा।
कह-सके, अकिञ्चन तुच्छ तुम्हे वे बाले!
नल तो सुन्दरी सुयोग्य कहेगे बाले!
फिर तुम्हें न वर-कर कौन चातुरी होगी,
अवलोक तुम्हे तो मौन चातुरी होगी।
पाकर तुमको निषधेश, प्रफुल्लित होवे,
उन स्वर्ण-क्षणो को भूल न भूपति खोवे।
मै तुमको यह विश्वास दिलाता भैमी!
यह विहग तुम्हारी आस जिलाता भैमी!"

"प्रस्तुत मेरा सर्वस्व उन्ही के हित है,
अब वही करो तुम हस ! जो कि समुचित है ।"
"है साधुवाद शत, भीमनन्दिनी ! तुमको,
आशीष परम, आनन्दकन्दिनी तुमको ।
यह निर्णय सचमुच योग्य किया है तुमने,
निज मति-का परिचय ठीक दिया है तुमने ।
पर, स्वय न हो स्वाधीन, बालिके ! इस क्षरण,
इसका यदि करे विरोध तुम्हारा गुरु-जन ।
या, देख स्वयवर-मध्य देव-गरण आये,
हे रमरिग ! तुम्हारा विवश हृदय चल जाये ।
तब क्या होगा, क्या - सोच लिया यह तुमने,
या यो-ही वचन-प्रदान किया यह तुमने ।
थी हुई भ्रुकुटि कुछ कुटिल, क्रोध मे भरके,
भैमी बोली-निज दृष्टि, वक्र यो - करके ।
क्या कहा, भला क्या - वचन टलेगा मेरा,
पहले यह कुत्सित देह जलेगा मेरा ।
हूँ पूर्णतया स्वाधीन, स्वय मै इसमे,
जीवन-का सुख दुख सभी निर्भरित जिसमे ।
इसमे कोई अवरोध न कर सकता है,
है कौन विवश कर मुझे, कि वर सकता है ।
बेचारे सुर, क्या-मुझे स्व-पथ से टाले,
वे आकर मुझपर तनिक दृष्टि तो डाले ।
रे विहग ! अधिक क्या कहूँ, सुनो प्रण मेरा,
यदि हो न सके निषधेश, प्राण-धन मेरा ।
पहना-पाई, यदि उन्हे न निज-वर माला,
तो, अविवाहित ही रहे सदा यह बाला ।
मै अनल रहूँ तो, शरण अनल की जाऊँ,
हाँ, नही किसी-को असित स्व-मुख दिखलाऊँ ।

साक्षी-हो मेरे द्रुम, सूर्य, शशि, तरु-गरण,
ये खिली लतायें, गगन, सरोवर, उपबन।
इस पुण्य-भूमि पर जन्म लिया है मैने,
आर्य्याओ-का सत्सग किया है मैने ।
यह सदुपदेश दे रहा, जहाँ करण-करण है,
प्रण के आगे, निस्सार-हीन, जीवन है ।
छोडो न अधूरा उसे, कहो जो मुख-से,
साहस को रखना सजग, न डरना दुख-से ।
फिर सतियो के पद-चिन्ह कि जिसने देखे,
है बने दु ख भी सौख्य कि जिनके लेखे।
मै करूँ न वे पद-चिन्ह, कलकित उनके,
हाँ, और करूँ दृढ, सती-कीर्ति-पट बुनके ।
आ-देखें, अब सब विघ्न मुझे विलमावे,
जीवन-रहते दृढ मुझे स्व-पथ-पर पावे।
हो सकता है निषधेश अनादृत करदे,
पुरुषत्त्व-केन्द्र वे, भले भग-व्रत करदें ।
तब विदित अनल-पथ मुझे, सहारा देगा,
हत-भाग्या को वह सदय किनारा देगा।"

"हे भैमि ! समझलो सत्य मिलो, तुम दोनो,
दामिनी-मेघ-से मिले, खिलो तुम दोनो।
जिसने शिव से सयोग किया गिरिजा का,
श्री-हरि, का सुन्दर युग्म, हिमाशु-निशा-का।
उस विधि ने वह अभ्यास, तजा क्या-अपना,
जो हो न चन्द्रिके ! पूर्ण तुम्हारा सपना ।
आहा-कितना वह समय मनोहर होगा,
जब नल-कर-मे यह सुमुखि ! कमल-कर होगा।

रम्भा आई नल निकट, मुग्ध-गुण-सुनकर,
होकर अस्वीकृत किन्तु, गई सिर धुनकर ।
हो गई नाम पर मुग्ध अत नल-कूबर—
को-ही पा हुई सु-शान्त, बनाकर निज वर ।
सुनकर, नृप नल-गुण, मुग्ध शची रोती है,
पर, सती-धर्म-क्षति-भीति उसे होती है ।
उर्वशी आदि अप्सरा, किन्नरी सारी,
नृप-नल आनन पर, अनल-शलभ-बलिहारी ।
पर है सब असफल-यत्न न वर पाती है,
नल-सु-यश किन्तु अनुरक्त हुई गाती है ।
पन्द्रह-दिन तक विधि, नित्य इन्दु-को रचता,
फिर भी नल-वदन-समक्ष, तुच्छ वह जँचता ।
इसलिए नष्ट कर पुन पुन रचता है,
फिर भी होने पर पूर्ण हेय जचता है ।
यों-अब तक कितनी अमा-पूर्णिमा बीती,
हो पाई, विधि की, किन्तु कहाँ मनचीती ।
वह नल-मुख का प्रतिमान न रच पाता है,
अब भी यह विधि-व्यापार चला आता है ।
पाकर होगे वे तुम्हे, मुदित मन ऐसे,
परिपूर्ण चन्द्र हो खिले गगन मे जैसे ।
मुक्तावलि-सी रद-पाँति चमकती होगी,
घन-विद्युत-सी मुख-कान्ति दमकती होगी ।
अनुपम ज्ञाता वे तुरग-शास्त्र के देवी,
सम्मानित है वे विवुध-मात्र के देवी ।
उनके वाहन-सा अन्य न वाहन जग-में,
गति है न कही कुछ रुद्ध, कि जिसकी मग-में ।
है उच्चै श्रवा-समान, सु-रथ मे घोड़े,
उनसे आगे कब पक्षिराज भी दौड़े ।

है दसो दिशाये विजित, कि जिनके द्वारा,
गाता उनके ही यशोगीत जग-सारा ।
होगा नल-रथ मे-बैठ विहार तुम्हारा,
नल-सुमन, देवि ! प्रस्तुत उपहार तुम्हारा ।
सुन चुके आर्य नल सु-गुण तुम्हारे सारे,
वे तुमको रहते सदा हृदय-मे धारे ।
अब बीत रही किस-भाँति नृपति-की राते,
वे परम सुहृद-सम विदित मुझे सब बाते ।
स्वप्नो-मे पाकर तुम्हे हृष्ट-वे होते,
जगने-पर किन्तु न देख, दुखो-से रोते ।
"हा ! किधर गई दमयन्ति !" कक्ष-से उनके—
ध्वनि उठती जब, तब, मित्र-दुखी-हो सुनके ।
हो गई नृपति-की क्षुधा तृषा, सब-गत-सी,
मुख-स्वर्ण-कान्ति वह दिव्य, हुई आहत-सी ।
मुख-रग पीत-पत्रो-सा, आहे - शीतल,
बरसाते लोचन सलिल, भाद्र से बादल ।
क्षण-भर को भी वे धैर्य न रखते इसमे,
कुछ उठा न रखते यत्न, मिलो, तुम जिसमे ।
हाँ, बहुत बोलते नही, मौन ही रहते,
यह विरह-वेदना, व्यथित विवश वे सहते ।
आती न उन्हे कुछ नीद, जागते रहते,
ले सुमुखि ! तुम्हारा नाम, कही कुछ-कहते ।
इन सब-का कारण, एक वियोग तुम्हारा,
क्षण,क्षण, कृशतम हो रहा,सु-तन वह सारा ।
भीमजा - तरी से हीन, डूब-मर-जाऊँ,
हो लब्ध किनारा, कही उसे यदि पाऊँ ।
मेरा - जीवन - आधार, एक भैमी है,
उर-दाह शमन के हेतु सेक भैमी है ।

जीवन ही उसके बिना, निरर्थक मेरा,
मै रहूँ सदा, सर्वदा - सुमुखि-पद चेरा।
यो-सबोधित कर तुम्हे, निषधपति कहते,
निज तन-मन पर दिन-रात व्यथा वे सहते।
सहृदया नही हो भैमि ! एक दिन बोले—
है नूतन से स्मृत मुझे वचन वे - भोले।
जड का मै यदि इस भाँति-उपासन करता,
तो, अपने-पर निश्शक, अश्म-मन हरता।
पर, भैमी-वरदा हुई न, पूजित होकर,
मै, उसका सेवक बना, महीजित होकर।
निज - रोदन जल-से अर्घ्य उसे - देता हूँ,
उत्थानासन - के समय नाम लेता हूँ।
आकृष्ट न फिर भी, भीम-नन्दिनी मुझ पर,
सहृदया-नही वह ओह ! कठिन उसका उर।
कहते - कहते रो-पड़े, निषध-पति सहसा,
दुर्दुख मित्रो-को हुआ, देख दुस्सह-सा।
फिर तुम्ही कहो ! हो गये मुग्ध जो ऐसे,
कर - देगे अस्वीकार तुम्हे वे - कैसे !
अब तक जिसको थी छिपा-रही ब्रीड़ा-से,
नृप-सुता सिसक अब उठी उसी-पीडा-से।
केवल मुख से कर आह ! हंस-से बोली—
मृग - शावक जैसी आँखे-भरकर भोली।
वह, आह हुई या - वेग वायु-का आया,
जिसने लज्जा - का पूर्ण-पयोद हटाया।
"जो थी भस्मावृत हुई, हृदय - की ज्वाला,
उसको कर घृत-से संचित धधका-डाला।
व्रण-पर छिड़काया, लवण अरे ! क्यों तुमने,
थी सुप्त वेदना, सजग किया यो, तुमने।

यो कहकर,रह कुछ मौन, त्वरित-फिर बोली—
वाणी भैमी की हुई करुण-रस-घोली।
हे हंस ! न हूँ क्या भाग्यशालिनी अब मै,
पाती-हूँ, मन मे स्थान, कि उनके जब-मै।
यदि आर्यपुत्र यो स्मरण मुझे कर-लेते,
तो, पतिता को फिर, मान न क्या-वे देते।
जो सुन्दरता - को देख प्रेम - होता है,
वह मोह ! व्यर्थ-ही प्रेम-मूल्य खोता है।
वह कर स्व - वासना पूर्ण, नष्ट होता है,
उसमे दोनो ही ओर कष्ट होता है।
पर, मुझे उन्होने कभी न देखा - भाला,
फिर भी अपने को प्रेम-अनल मे डाला।
है यही मानसिक प्रेम, क्षेमकर जग - मे,
यह दिव्य-सुधा बरसाता, जीवन-मग-मे।
हाँ, एक पक्ष-से कभी नही यह होता,
दोनों हृदयों - मे सभी कही यह होता।
मै, बहुत दिनो से, आर्य्य - पुत्र - पद - चेरी,
जो निषधराज की दशा, वही है मेरी।
हे खग ! उनसे भी अधिक, क्यों कि वे नर हैं,
ज्ञानी, विद्या-मति-सिन्धु, भटों मे वर हैं।
सहना फिर उन्हे वियोग न कुछ भी भारी,
मुझको देखो ! मतिहीन, अबल-कृश-नारी।
जब उनकी ऐसी दशा हुई इस दुख-से,
तब क्या-है मेरी दशा, कहूँ किस-मुख-से।
वे है सब विष-के घूँट, जिन्हें पीती-हूँ,
विस्मय होता, किस भाँति कि, मैं जीती-हूँ।
घट जाता है दुख - भार, कथन करने से,
शीतल होता उर - दाह, आह, भरने - से।

दुर्गम, अबला के लिए, किन्तु पथ - दोनो,
कन्या को ये सविशेष बहिष्कृत दोनो।
श्रुति-सुखद नाम वह सुना जभी से मैने,
कर-आत्म-समर्पण-दिया तभी-से मैने।
मन - मन्दिर मे, प्रिय - पाद - अर्चना करती,
मै, इस प्रकार कुछ ताप हृदय - का हरती।
दी वरमाला, वर - चुकी स्वयबर - बीता,
है फिर भी हाय ! अपूर्ण अभी मनचीता।
अब आर्य्य-वरण बस लोक-दिखाना ही है,
देना उनको वरमाल, बहाना-ही है।
वे नाथ हुए, हॉ-नाथ, और मै-दासी,
मेरा मन तो है विहग ! अचल विश्वासी।
हा, फूँक गया क्या मत्र, कौनसा मत्री,
कर गया हाय, क्या-तन्त्र, कौनसा ! तन्त्री।
क्या-जादू, उनपर ओह ! न भेद चला है,
जो, अबला-मन असहाय, अदृश्य छला है।
जब-से तिथि निश्चित-हुई स्वयबर-की है,
तब-से बरसो - के सदृश, एक पल-भी है।
खग ! आर्य्य-पुत्र-के निकट पहुँच तुम जाना,
कहना कि, यहॉ अनिवार्य, उन्हें है आना।
यदि, आर्य्य, स्वयवर-मध्य, न दृग्गत होगे,
तो, इस अबला-के प्राण, स्वय हत-होंगे।
अबला - हत्या - का पाप चढ़ेगा, उन - पर,
लग जाय कलुष फिर क्या-न भलाशुभ गुणपर।
पर, यह सब सुन, वे मुझे हीन मानेंगे,
निश्चय, लज्जा - से रहित, मुझे जानेगे।
उनसे मत कहना हंस ! अत. तुम कुछ भी,
हॉ, कह सकते हो बात, स्वतः तुम कुछ भी।

मै, स्वय सहूँगी सभी वेदना मन-की,
पर, आँखे हठ कर रही, आर्य्य-दर्शन-की ।
मै तडप-रही हतभाग्य, अजल-शफरी-सी,
फ़ूटी-भी आँखे रहे, पयोद - भरी - सी ।"

सहसा, खग-बोला-उधर तुम्हारी सखियाँ—
आ-पहुँची, सुन्दरि ! शीघ्र पोछलो, अँखियाँ ।
तुम रहना इसी प्रकार सुदृढ निज प्रण-पर,
रखना, पूरा-विश्वास, निषध-के धन पर ।

"थोडा-सा ठहरो हस ! अभी जाती-हूँ,
मुक्ता चुगना-तुम, शीघ्र लिये आती हूँ ।"

"मुक्ता-से भी बहु-मूल्य तुम्हारी वाणी,
कर-चुका पान, यह हस, जियो ! कल्याणी !"

उड-गया हस, रह-गई ठगी-सी बाला,
सुन, सखी ! सखी ! सम्बोध जगी-सी बाला ।
होता प्रभात-का चन्द्र, गगन-मे जैसा—
निष्प्रभ, भैमी-वदनेन्दु हुआ अब वैसा ।
उल्लास - हास, सब साथ लुप्त-सा दीखा,
उसको अपना ससार सुप्त-सा दीखा ।
बलवती हुई वह किन्तु और अभिलाषा,
दे-रही - धैर्य - परिपूर्ण, उसे थी आशा ।
अपने समान ही दशा, स्व-प्रिय की सुनके—
हो रहा तोष कुछ, सुखद-मधुर-गुण उनके !

"ये, कर सब सञ्चित पुष्प, प्रतीक्षा-करके,
सखि ! हम आई पद-चिन्ह तुम्हारे धरके ।
हम तो थी खो-सी गई, न तुमको पाकर,
क्या-सोच-रही हो यहाँ, विजन-मे आकर ।
मुख पर कैसे आ - रही उदासी, आली !
क्यो ! आँख अरुण-सी हुई, अरी ! ये काली ।
भय लगा न क्या-कुछ तुम्हे यहाँ आने-मे,
हम तो सब थक भी गई तुम्हे पाने-मे ।
वह राजहस है कहाँ ! न हाथो आया,
पक्षी - के पीछे, व्यर्थ कष्ट यह पाया ।"

"मै पकड न उसको सकी, यही फिर बैठी,
थे विविध-भाव उर-जगे, उन्ही मे पैठी ।
था कितना सुन्दर हस, नेत्र - सुखकारी,
आता वह कैसे हाथ ! गया नभचारी ।
अच्छा ! आओ, घर चले, काल अति बीता,
लग-रहा सुखद - आराम, मुझे अब रीता ।"
आगे-भैमी-को किये, चली सब सखियाँ,
कुछ खोज-रही खोया-सा उसकी अँखियाँ ।
मन स्वस्थ न था, भीमजा भान-सा भूली,
डग मग, डग मग, पद-पडे, साँस थी फूली ।
वह, बार - बार हो सावधान चलती थी,
पर, विगत क्षणो-की याद उसे छलती थी ।
उसको केशिनी, सँभाल-लिये जाती थी,
पद-पद पर ही उद्बोध दिये जाती थी ।
"हे सखी ! तुम्हारा वस्त्र, गुल्म ने पकडा,
रह गई खड़ी क्यो-अरी ! पाँव क्या-जकड़ा ।

यह बाढ कटकित इधर उलझ - जाओगी,
क्या सम्मुख पथ अवलोक, न चल पाओगी।
हो गया, तुम्हे क्या-आज-सखी! जो ऐसी!
विक्षिप्तो - सी लग-रही, न देखी जैसी।"

"हे सखी! न है तन स्वस्थ, उछलता मन है,
छटपटा रहे-से प्राण, वितप्त-वदन है।
आँखो-आगे, तम घहर घहर अडता है,
हो गया मुझे कुछ रोग, जान पडता है।"
यो-सुन भैमी के वचन, केशिनी-बोली—
सचमुच हो तुम अनजान कुमारी-भोली!
मायावी था-वह हस, रची कुछ माया,
यह स्वर्ण-लता-सी देख तुम्हारी काया।
आया क्या-कोई देव! छद्म - वेशी - बन,
ले - गया चुराकर, मन्त्र-शक्ति से मृदु-मन।
फिर कभी अकेले कही न आली! जाना,
हम भी आती थी साथ, न कहना माना।
कहती सुनती, आ - गई भवन - मे वे सब,
नृप-सुता-रोग-उपचार-व्यस्त थी वे अब।

उस ओर, खग-सन्तुष्ट हो, गाता हुआ था उड़ रहा,
अह! दीप्ति-सा ऊँचे, कभी नीचे, कभी कुछ मुड-रहा।
वह, वृत्त भैमी-का सभी, नृप-से निवेदन जा किया,
पीयूष-का-सा पान वह! नृप ने युगल श्रुति से पिया।
दे साधुवाद खगेश को, आभार अति प्रगटित किया,
था हर्ष से परिपूर्ण तब उन-युगल-मित्रो का हिया।
दिन स्वयबर-के गिन रहे अब निषधपति हर्षित हुए,
उस दिव्य-सी नृपनन्दिनी मे पूर्ण आकर्षित हुए।

पञ्चम सर्ग

"मृत्यु लोक भी धन्य हुआ, आज न उससा अन्य हुआ।
स्वर्ग को अतिक्रमरण किया, मैने उसमे भ्रमरण किया।
प्रान्त विदर्भ वहाँ पर है, शासक भीम जहाँ पर है।
आर्य्य भूमि का वह कोना, ऐसा हुआ, न है होना।
कुण्डिनपुरी राजधानी, बसे धनी मानो ज्ञानी।
वही भीम नृप के घर मे, इन्दु उदित ज्यो अम्बर मे।
त्यो दमयन्ती सुता हुई, सर्व गुणो से युता हुई।
सुरपुर मे भी आज कही, है उससी सुन्दरी नही।
अब वह स्वयवरा होगी, शोभित आर्य-धरा होगी।
उत्सव सफल बनाना है, ठाठ बाट दिखलाना है।
यही सोच अपने मन-मे, आर्य मुदित हे क्षण-क्षण मे।
तैयारी मे लगे हुए, मानो है सब जगे हुए।
पर मेरा अनुमान यही, निषधराज नल सौम्य वही।
बली गुणी जो सुन्दर है, सचमुच पुरुषो मे वर है।
शत, शत रवि मुँह पर जगते, अमर न उस नर से लगते।
उन्हे देखकर वह बाला, दे न अन्य को वर-माला।
किन्तु सफल जीवन करने, मन मे महा मोद भरने।
और देखने आर्य्यो को, उनके उज्ज्वल कार्यो को।
जाना वहाँ समीचन है, कहता यो मेरा मन है।
अतः सभी जाओ, जाओ, नही गए तो पछताओ।"
ऐसी नारदोक्ति सुनके, मन मे भली भाँति गुनके।
सज्जित सुर-पुर अधिवासी, भैमी-दर्शन अभिलाषी—
हुए वहाँ पर जाने को, धरा-सुमन लख आने को।
उरग यक्ष किन्नर गधर्व, चला वहाँ से सुर-गण सर्व।

हो मानव वेशी से वे, आर्य्य वर्त्त-देशी से वे।
छद्मदूतिया निज निज-हाँ— भेजी, सब ने पूर्व वहाँ।
निज प्रेषक गुण गावे जो, जाकर उसे रिझावे जो।
जिससे स्वयवरा बाला, दे न अन्य को वरमाला।
सुरपुर की शोभा सारी, आर्य्य-भूमि ने थी धारी।
हुआ, वि-सुर-सुरनगर वहाँ, प्रोषितपतिका वास जहाँ—
अपने अपने वाहन - मे, मानो, विद्युत हो घन-मे।
वे सज्जित है कौन ! खडे, होकर चारो मौन बडे।
ये शत चिन्ह गात वाले, सज्जित-बज्र हाथ वाले।
और कौन ! सुरनाथ वही, 'वरुण' 'अग्नि' यम साथ वही।
अग्निदेव का तेज अरे ! मुँदते है दृग हरे ! हरे !
'वरुण' पाश को लिये हुए, भैमी-मे मन दिए हुए।
बैठे कैसे निश्चल है, सोच रहे जल, कुछ छल है।
यम ने निज-वाहन छोडा, महिषराज-से मुँह मोडा।
और आज रथ मे बैठे, सोच रहे सज्जित ऐठे।
जाते ही ज्यो-आज इन्हे, भैमी अपने लिए चुने।
देख समय अनुकूल तभी, सुर-पुर से वे चले सभी।
था, रथ-घोष पयोदों-सा, तुरग-जोश था योधो - सा।
सुर-सरि जल के साथ चले, तट पर चलते लगे भले।
अपने हाथो कटे हुए— पक्ष सभी के छँटे हुए—
डाल स्वदृष्टि पहाडो पर, जमे विघ्न से झाड़ो पर।
थे नाकेश चले जाते, वे तीनो भी थे आते।
मै हूँ सुन्दर सजा हुआ, मम यश डका बजा हुआ।
मुझे छोडकर इन्हे कही, भैमी-करे पसन्द नही।
चारो के थे भाव यही, आई तब तक आर्य्य-मही।
क्रम से चारो उतर पड़े, हाथ जोडकर हुए खडे।
गद् गद् हो गुण-गान किया, आर्य्य-भूमि को मान दिया।

"हे हिम अचल मुकुट वाली, सस्य-श्यामलित पट वाली।
धोता है पद सिन्धु-उधर, भाल विराजे इन्दु-इधर।
ऋतुएँ क्रम क्रम से आती, सुधा-प्रवर्षण कर जाती।
भाँति, भाँति, के अन्न यहाँ, होते है ये और कहाँ।
सुर-सरि से भी सुन्दर-ये, है नद, नदी, झील, सर ये।
हरि ने कितनी बार अरे ! जननी ! तुम पर जन्म धरे।
तज कर स्वर्ग यहाँ आना, जन्म, अजन्मा का पाना।
कितना तुझे चढाता है, दिव से उच्च बढाता है।
मर-सकते हम अगर कही, तो, आ धरते जन्म यही।
मरना जीना यथा यहाँ— जगत है, अन्यत्र कहाँ।
कर्म-साध्य है यहाँ सभी, रूचिर खाद्य है यहाँ सभी।
ऋषि, मुनि, जन,उद्भूत यही, आदि ज्ञान के दूत यही।
पतित पावनी मात तुही, स्मरणीया नित प्रात तुही।
बली, गुणी, तुझपर जन्मे, तुझ पर धर्म-धुनी जन्मे।
जिन्हे जन्म तुम देती हो, जिनकी सुध तुम लेती हो।
धन्य, पवित्र हुए सब वे, गेय-चरित्र हुए सब वे।
मद-सा चढता जाता है, यही चित्त मे आता है।
तुझको देखा करे यही, सुखदायक प्रिय पुण्य मही !
आँखे आज कृतार्थ हुई, अपलकता भी सार्थ हुई।
हो प्रणाम स्वीकार तुम्हे, कर, माँ ! अगीकार हमे।
कहते कहते देव तभी, झुके भूमि-पर साथ सभी।
रज-कण लेकर हाथो-से, लगा-लिये, निज माथो से।
हो गद गद मन तभी भले, बैठ रथों मे सभी चले।
जल-थल, गगन पहाडो में, विटप-गुल्म मे, झाडों में।
थे अविराम यान जाते, बाधा कही न थे पाते।
अटवी आई कही बडी, कही मिली गिरि-भूमि कड़ी।
सस्य-निराते कृषक कही, जिनकी सब सम्पदा वही।
प्रिय-हित रोटी लिये हुए, ध्यान गीत मे दिये हुए।

सुन्दर सुमन-समान खिली, कृषक-तरुणियाँ उन्हे मिली।
सस्य-रक्षिका जहाँ-तहाँ, बैठी गाती गीत वहाँ।
कही धेनु चरती चारा, फिरता साथ वत्स-प्यारा।
गोप दण्ड-धर घूम रहे, शासक-मद मे भूम रहे।
भार फलो का सहन न कर, भुके हुए थे शाखी-वर।
विविध सुदृश्य निरखते थे, जाते विवुध न थकते थे।
देखी भूमि फली फूली, अमरावती उन्हे भूली।
सहसा चौके शक्र तभी, यह क्या-दीखा अरे! अभी।

"भद्रो! यह सेना किसकी, हो न सके गणना जिसकी।
कितना सुन्दर शिविर पडा, बसा हुआ ज्यो नगर बडा।
टिके सुभट कमनीय बडे, हय-गज दुर्दमनीय खडे।
क्या - यह पडी देव सेना, उसे यहाँ, पर क्या-लेना!
उधर अकेला वह भटवर, बैठा है कितना सुन्दर।
इसे देखकर ध्यान यही, होता है अनुमान यही।
स्कन्द-सहित ज्यो ओज भरी, सुर-सेना नभ-से उतरी।
मघवा ने यह बात कही, चौक पडे सब सचमुच ही।
सहसा सब के यान रुके, सुरेशोक्ति पर ध्यान झुके।
लगे देखने सभी उधर, बैठा था वह युवक जिधर।
उसकी सुन्दरता-देखी, अमरो ने, नरता - देखी।
हटी न दृष्टि चकोरी-सी, नल-मुखेन्दु-पर बौरी-सी।
तभी विडौजा बोल-उठे, वाणी-मे रस घोल-उठे।
है यह नल निषधेश अरे! सर्वभद्र जनतेश अरे!
है मेरा अनुमान यही, दिव्य-दृष्टि का ज्ञान यही।
वे तीनो सुनकर चौके, कँपे-सुमन ज्यो, पा-झोंके।
देव! ठीक अनुमान यही, है नलराज महान यही।
आहा, कितना सुन्दर है, भू-अवतरित सुधाधर है।

आँखे कितनी बडी बडी, कन्धो पर है लटे पडी।
मुकुट सुशोभित है सिर-पर, शशि शोभित ज्यो नटवर-पर।
तेज भरा यह भाल अहा ! जगता दिनकर-बाल अहा !
गठित भुजा लम्बी कितनी ! कब हो पुरुषो-की इतनी !
विस्तृत - वक्ष - उभरता-सा, दृग आकर्षित करता-सा।
कितना दिव्य शरीर मिला, स्वय अवनि-पर कल्प-खिला।
नर जब वर आकृति-पाते, गुण स्वयमेव चले आते।
अत न सुन्दर ही जानो, इसे गुणाकर भी मानो।
स्वयम्बरोत्सुक जाता है, यही समझ - मे आता है।
सच, यदि कुण्डिनपुर जाये, यह ध्रुव भमी-को पाये।
इसके होते कभी कही, अन्य-वरण वह करे नही।
क्षण-मे कार्य सभी निबटे, क्यो-फिर इतने जन-सिमटे।
सत्य न होगा यदि सपना, जाना व्यर्थ वहाँ अपना।
दृग-प्रेरित कर मुस्काये, यान छोड नीचे आये।
लगी-मन्त्रणा फिर होने, बीज-कुटिल-से कुछ बोने।
उभरी चिन्ता की रेखा, सबने सुरपति को देखा।
दृष्टि खोजती-अर्थ भरी—— चिन्तोदधि मे सहज तरी।
सुरपति से फिर बोले यो, देव ! खडे बन भोले क्यो।
हो सुरपुर के नाथ तुम्ही, दिग्पालो के हाथ तुम्ही।
चाल चलो, कोई इससे, वहाँ न यह जाये जिससे।
इनका वृत्त हमे-सारा—— सु-विदित गुप्तचरों-द्वारा।
है अनुरक्त परस्पर ये, भैमी के निश्चित वर ये।
जीवन-सुखी बनाने को, दम्पति ही बन जाने को।
दोनो ने प्रण किये कडे, प्रणय-अग्नि-मे तभी पडे।
देखेगे हम स्वय यही, भैमी की दर्पोक्ति वही।
यही विचार नृपति-का है, सपना भैमी-पति का है।
यदि न वहाँ-पर ये जाये, कैसे ! दम्पति बन पाये।
प्रभु, इन दोनों को-परखो, लौटाओ इसको घर-को।

पातिव्रत भैमी का वह, मत्यव्रत इनका भी यह—
आज परीक्षा मे डालो, अब कुछ मत देखो-भालो।
कहा शक्र ने हँसकर यो, क्या-लोगे तुम फँसकर यो।
अच्छा, तो है यही अरे! सब जन, निज निज कार्य करे।
भैमी के है योग्य यही, इसका समुचित भोग्य वही।
इनकी जोडी मिले-भली, मिल जाये घन-से बिजली।
इनके समुपस्थित रहते, और स्वय कहते - कहते—
यदि भैमी ने वरे न ये, दिव्य-तरी-से तरे न ये।
तब भैमी की गुणवत्ता, पातिव्रत की सब सत्ता।
स्वय धूलि मे मिल जाये, वह न गुणवती कहलाये।
भिडे नरो से जहाँ-कही, कब जीते हम, नही! नही!
मेरा अपना अनुभव है, नर-से, देव-पराभव है।
किन्तु, तुम्हारा यह आग्रह, लायेगा यद्यपि विग्रह।
मुझको अगीकार रहा, कौतुक अब कुछ करे महा।
मुझसे टला सुराग्रह कब, जो मैं इसको टालूँ अब।
यह नृप, पुरुषो मे मणि है, सच्चा यशोधनी ही है।
वचन से यह न मुकरेगा, कहने पर सब कुछ देगा।
इसकी प्रियतर वस्तु अभी, माँगेगे हम पहुँच सभी।
कर कुछ हील हवाले यह, यदि दे वचन, न पाले यह।
फिर देवासन-प्राप्त इसे— होगा कभी न प्राप्त इसे।
और क्षीण हो पुण्य सभी, मिले न शुभ-फल भैमी भी।
एक पथ दो काज बने, ऐसा कुछ छल-जाल बुने।
सती परीक्षा भी होगी, जग-हित, नव-शिक्षा होगी।
सावित्री का मार्ग बडा, ज्यो धूसरित सु-रत्न पडा।
अब वह शाणित-सा होगा, पुन प्रमाणित-सा होगा।
नव जागृति हम लायेगे, दुनियाँ को दिखलायेगे।
दिया वचन पूरा करना, श्रेष्ठ, अन्यथा है मरना।
यही हमारा ध्येय अहो! जग-मे धर्म स्थापना हो।

भैमी, इनको वरण करे, प्राणो-का या हरण करे।
वहाँ अन्य सबका जाना, मैने, तो निष्फल माना।
किन्तु, वहाँ चलना होगा, और इसे ! छलना होगा।
तब कुछ नई-क्रान्ति-होगी, अपगत सकल-भ्रान्ति-होगी।
यो-कह मघवा चले तभी, यम वरुणानल साथ सभी।
बैठे थे निषधेश जहाँ, पहुँचे सब दिग्पाल वहाँ।

सुनकर, सुर-पद-की आहट, स्वागत-हेतु, उठे नल झट।
ज्वार तनोदधि ने पाया, मन-मे भाटा-सा छाया।
वेशाकृति से ही जाना, मन-मे महा उन्हे माना।
अत पदों-मे क्रम-क्रम से, झुके नरेश अथक श्रम से।
देवो ने आशीष दिया, नृप का हर्षित हुआ हिया।

"हम-सुरपुर के वासी है, अनवशेष अभिलाषी है।
कहिए, कुशल क्षेम तो-है, चलता, नित्य-नेम तो है।
भूपति हो तुम धन्य अरे ! सचमुच वीर अनन्य अरे !
सुभट सभी तुमसे थकते, देव तुम्हारा मुँह तकते।
तुम नित नूतन मख करते, अनावृष्टि भू-से हरते।
मख-मे भाग निकलता है, वह हम सबको मिलता है।
देवो के अवलम्ब तुम्ही, धर्म ध्वजा के स्तम्भ तुम्ही।
सु-यश दिशाओं मे व्यापा, सुर-पुर तक जिसने मापा।
आज स्वय हमने आकर, दर्शन दिये तुम्हे पाकर।
पुण्य तुम्हारे उदित हुए, हम भी तो अति मुदित-हुए।
निषधराज बोले-सहसा, मन उनका, अति ही रहँसा।
ओठो - पर कुछ लहर चली, मानो, खिलने चली कली।
निर्निमेष दृग देख प्रभो, जान गया सब दास विभो।
दर्शन देकर नाथ ! मुझे, किया महान् कृतार्थ मुझे।

पुण्य कहाँ, मेरा इतना, यह है प्राप्त देव - करुणा।
तप व्रत आज स-मूर्त्त सभी, मेरी इच्छा - पूर्त्ति - सभी।
किन्तु, एक जिज्ञासा है, महती - सी अभिलाषा है।
कौन ! कौन ! है आप हरे ! सेवक, परिचय प्राप्त करे।
आने का क्यो, कष्ट किया, व्यर्थ,निज समय नष्ट किया।
दास अनुज्ञा यदि पाता, स्वय उपस्थित हो जाता।
बोले - सुरपति मुस्काकर, दन्त - कान्ति सी फैलाकर।
ओ नलराज ! पुनीत सखे ! हमने तुम न कही देखे।
फिर भी तुमको जान गये, तुम नल हो हम मान गये।
कठिन न यह हम कुछ माने, सुर, पर-मन तक की जाने।
देवराज मै इन्द्र खडा, जो शतमख विख्यात बडा।
और इधर ये पावन से, पाश-लिये मन-भावन - से।
स्वय उपस्थित वरुण महा, देते दर्शन तुम्हे अहा।
आप ! जटिल तेजोधर-से, दीख रहे जो सुन्दर - से।
पूत सु-अग्नि उपस्थित है, करते जो नित, जग-हित है।
और इधर ये दण्ड लिये, मुख-पर तेज प्रचण्ड लिये।
धर्म - रूप दुर्दम यम है, चारो लोकपाल हम है।
तुम्हे देखकर आज अरे ! है हम सब अति-हर्ष - भरे।
भद्र ! तुम्हे यो सम्मुख पा, इच्छा हो तो विस्मय क्या।
तुमसे है यह धन्य, धरा, तुमसे है भव हरा - भरा
इधर अचानक आ-निकले— हम, अब तुमसे मित्र-मिले।
निषधनाथ ! अवलोक तुम्हे, कुछ इच्छा हो गई हमे।
मन-मे पर-हित को धरके, वत्स ! कार्य पूरा करके।
तुष्ट करो, तुम आज हमे, फिर मुँह-माँगा मिले तुम्हे।"

"अह, हूँ-क्या-मै धन्य, नही, आज न मुझसा अन्य कही।
मुझसे तुम सेवा लेते, देव स्वय आज्ञा - देते।

दास प्राण को देकर भी, पूरी आज्ञा करे सभी।
शीघ्र देव ! कुछ शीघ्र कहो ! आज्ञा-दो मत मौन रहो।
मौन हुए भूपति भोले, उत्तर - में सुरपति बोले—
सुर किन्नर गन्धर्व तथा, सेवा उद्यत कौन ! न था।
जो हम कहते है तुम से, कहा न हमने क्यो, उनसे।
वे ऐसे गुणधाम कहाँ ! कर पाते यह काम कहाँ।
केवल तुम कर सकते हो, विघ्न-सिन्धु तर-सकते हो।
है वह कार्य बडा दुस्तर, पर तुमको करना सत्वर।
सोच समझकर 'हाँ' करना, पडे न लज्जा से मरना।
नृप ! तुम उत्तम वशज हो, स्वय चन्द्र के अंशज हो।
जन्म वहाँ जो पाते है, अपना वचन निभाते है।
प्राण भले ही खो जावे, वचन पूर्ण पर, हो जावे।
सोच समझ लो और अभी, करना अङ्गीकार तभी।"

"पाकर सम्मुख पात्र सही, सोच समझ का प्रश्न नही।
अर्थी हो यदि पास खडा, कितना भी हो प्रश्न कडा।
केवल क्रिया सदुत्तर है, वहाँ विकल्प न हितकर है।
जिस कुल मे यह दास हुआ, कब ! जन वहाँ निराश हुआ।
और, यहाँ तो स्वय सुरेश— है सम्मुख पुण्य-प्रद-वेश।
तब क्या मै सोचू मन - मे, अच्छा - बुरा श्रेष्ठ धन-में।
देव ! आपका कार्य करूँ ! व्यर्थ ! नही तो देह धरूँ।
करूँ न वश कलकित मै, हूँगा कही न शकित मै।
बढी - व्यग्रता, धैर्य - गया, क्या वह दैविक कार्य नया।
साक्षी प्रभुवर आप सभी, करता है प्रण दास अभी।
पूर्ण कार्य यदि मै न करूँ, तब न विकुत्सित देह धरूँ।
मेरा सभी पुण्य क्षय हो, मुझे न प्राप्त कही जय हो।
सद्मति पाऊँ एक नहीं, रहे न साथ विवेक कही।

साधु-साधु की ध्वनि से तब, कम्पित-सा था वह स्थल-सब।
वज्री बोले - हर्ष भरे, धन्य, स्वय है देव अरे।
मरू थल मे यह कुमुद खिला, जो तुम जैसा, मित्र मिला।
अन्य भूप है कूप यहाँ, केवल तुम हो उदधि महा।
यो उत्साह जहाँ - पर हो, फिर क्या-कठिन वहाँ-परहो।
अच्छा ! अब तुम काम सुनो, भली-भाँति फिर उसे गुनो।
तुमको देव - ताप हरना, इनका दौत्य - कार्य करना।
चिन्ता करो न कुछ उर-मे, जाओ अब कुण्डिनपुर - मे।
निकट पहुँच गुणवन्ती के— भीम - सुता दमयन्ती-के।
काम कुशलता - से लेना, यो - सन्देश उसे देना।
उसका निकट स्वयबर है, चुनना उसको निज-वर है।
अत स्वयबर - मे बाला, दे न अन्य - को वर-माला।
हम चारों पर ध्यान धरे ! किसी एक को वरण करे !
हम, उस पर आसक्त हुए, देव उसी - के भक्त - हुए।
यदि वह हो तैयार नही, मान न जाना हार कही।
चतुर्नीति - से समझाना, अतुल - सुरो-का यश गाना।
उसमे देव प्रेम भर दो— पूर्ण मुग्ध हम मे कर-दो।
यह सब कर सुरकार्य वहाँ, आना सत्वर लौट यहाँ।
यही तुम्हें हम पायेंगे, तब तक कही न जायेंगे।
जाने से पहले गुन - लो, कह देना, वह भी सुन-लो।
हानि लाभ बतलाने पर, सु-यश सुरों-का गाने-पर।
यदि वह नरी नही माने, बालोचित कुछ हठ ठाने।
तो कहना यह बात सही, समझे कोरी विनय नही।
हम है देव शक्तिधारी ! वह है अबला सु-कुमारी !
हमें न वरना उस वेला, देवों की हो अवहेला।
सहन न हम यह करें कभी, वही क्रोध - में भरें सभी।
कोप हमारा सुविदित है, कौन! न उससे परिचित है।
सुर, नर, असुर, सशकित-से— हमसे सब आतंकित - से।

वह तो एक निरीह नरी, सम है, जीवित और मरी।
एक फूँक से उड-जाये, मनचीता कब कर-पाये!
वरना जिसको चाहेगी, उसे भी न वर-पायेगी।
नष्ट उसे हम करें वही, या, माया से हरें कही।
वह बाला यदि हमे वरे! देवी-बन भव-सिन्धु तरे!
हे नृप! अब सत्वर जाओ! सभी मार्ग तुम शुभ पाओ!
सुरपति की यह सुन वाणी, नृप ने निरी-कुटिल जानी!
कुछ पहले जो मुदित खडे, मान रहे थे भाग्य बडे।
वे-नल स्तब्ध हुए क्षण-मे, लगे-सोचने निज मन-मे।
हाय! हाय! मैं ठगा गया, जाल इन्होने रचा नया।
आकर इनकी बातो-मे, स्व-हित नाशिनी-घातों-मे।
ओह! न कुछ देखा भाला, निज सर्वस्व जला डाला।
जिसे हृदय-में स्थान दिया, जिसको प्राणाधार किया।
अब उसके समीप जाना, और उसे यो-समझाना।
मुझे छोड वह इन्हे वरे! देवो मे निज ध्यान धरे।
वह तो आत्म-समर्पणकर—मान चुकी मुझको निज वर।
कैसे, मै सुर-दूत बनूँ, हा-दुर्भाग्य! अपूत बनूँ।
क्या-मै यह कर सकता हूँ, नही! नही! मर-सकता हूँ।
दमयन्ती क्या जानेगी, पतित मुझे ध्रुव! मानेगी।
चाहे उलटे स्रोत बहे, पापी मुझको लोग कहे।
नरक वास ही इष्ट मुझे, किन्तु न दौत्य अभीष्ट मुझे।
प्राण-रहे, चाहे-जाये, पर, भैमी मुझको पाये।
हाय! सुरो के पथ-मे मै—क्यो, आया यो-मिला इन्हे!
अब मै स्पष्ट कहूँ इनसे, कार्य न यह होगा मुझसे।
ओह वचन! पर तू विष-वृक्ष! मेरे पथ-में खड़ा समक्ष।
क्या-तू पूरा करना है, नहीं! नही! अब मरना है।
पर, निज कुल की रीति सही, वचन-भंग की-भीति वही।
कष्ट अनेको भले-सहें, प्राण जायँ, पर वचन रहे।

विकट धर्म - सकट आया, मार्ग न कुछ नृप-को पाया।
हाथ भाल - पर पहुँच गया, तिमिर-रोध था नया, नया।
रह, रह, पीडा बढती-सी, नीचे - से भू कढती - सी।
जब यो - नृप अवसन्न रहे, तब सुरपति ने वचन कहे।
अरे ! खडे तुम स्तब्ध हुए, देव सामने लब्ध हुए।
जाओ ! अथवा मना करो, अपना यश निज-हाथ हरो।
तुम्हें एक पथ चुनना है, कहो, हमें क्या-सुनना है।
सोच समझकर, मति से तब, बोले-नृप, सुरपति-से तब।
हे देवो - के देव प्रभो ! शत-मखकारी, महा विभो।
तुम सुर-पुर के वासी हो, अनवशेष अभिलाषी हो।
तुमको प्रिय है मान-सदा, पर-जन-मन का ज्ञान सदा।
भव - की कोई बात नही, जो तुमको विज्ञात नही।
कुण्डिनपुर मे जाने - का— भैमी को समझाने का—
प्रभु ने जो आदेश दिया, सोचो, क्या वह भला किया।
वह मुझ पर अनुरक्त हुई, पूर्णतया, अविभक्त हुई।
मै - भी उसको अर्पित हूँ, निज - सर्वस्व - समर्पित हूँ।
अब उसको ही पाने को, वधू बनाकर लाने - को।
कुण्डिनपुर - में जाता हूँ, हर्ष हृदय - में पाता हूँ।
क्या-ये मेरे भाव - सभी, अविदित है सुरनाथ अभी।
मुझे स्वर्ग का लोभ नही, देवों-से भी क्षोभ नही।
निश्चय, तुमने सब जाना, पर-मन-ज्ञान स्वय माना।
फिर भी मुझको छल कर यो, बुरी चाल यह चलकर यो।
क्या-सुरत्त्व-का देव कही, दुरुपयोग कर चुके नही।
इस देवत्त्व झरोखे - से, छला हाय ! मै धोखे से।
समझ निरा भोला भाला, वचन - दान मे ले डाला।
हुआ न यदि यह पूर्ण कही, तो, होगा शुभ-कर्म नही।
अतः कृपा मुझ पर कर-दो, देव ! ताप मेरा हर दो।
निज आज्ञा लौटाओ तुम, मृत-हूँ, मुझे जिलाओ तुम।”

"अरे भूप ! क्या-कहते हो, अपयश - नद - मे बहते-हो ।
कुछ क्षरण पहले वचन कहे, क्यो, अब उनको भूल-रहे ।
देते थे तुम प्राण हमे, रहा न क्या-यह ध्यान तुम्हे ।
पर, न प्राण मॉगे हमने, उलटे छली कहा तुमने ।
काम बताया यह थोडा, उससे भी यो मुँह मोडा ।
सदा एक पथ चलते हम, कहकर नही बदलते हम ।
कब, देवो के वचन बहे— जो आज्ञा-हो-चुकी, रहे—"

"प्रभु ! यह थोडा काम नही, भैमी-सम, धन धाम नही ।
भीम नन्दिनी सुन्दर वह, मुझे प्राण - से बढकर है ।
यदि न भीमजा मुझे मिली, जीवन-की बुझ-जाय-कली ।
देव ! धर्म संकट-से अब, पार-उतारो मुझको सब ।"

"अच्छा ! अब सुर जाते है, वचन न पूरा - पाते है ।
हाथ सु-यश से तुम धोओ ! देव-समय पर, मत खोओ ।
तुम थे यशोधनी समझे, पुरुष-वर्ग मे मरिण समझे ।
अब हमने सब कुछ जाना, सपना, कुछ तुमसे पाना ।
देव हुए गमनोद्यत - से, बोले-तब नल उन सब-से ।
जाओ मत, ठहरो, ठहरो ! बज्र बने घहरो, घहरो ।
वहाँ अभी जाऊँगा - मै, उसको समझाऊँगा मै ।
किन्तु, देव यह नीति बुरी, करती है अनरीति बुरी ।
सुर-पति-दौत्य करूँगा मै, अपने हाथ मरूँगा मै ।
तुमने ऋषि-मुनि-जन सारे, धोखा - दिया, खपा - डारे ।
ऋषि दधीचि के प्राण लिये, पक्ष-हीन सब अचल किये ।
क्या - देवत्त्व महान यही, क्यों, न खिसकती स्वर्ग-मही ।
देव ! अमृत-का पान किया, और अमरता-दान लिया ।

जब, वह भी सब धोखे से, कुटिल नीति - के झोके-से ।
तब न कुटिलता आये क्यो, छद्म न यो - करवाये क्यो ।
कारण-जनित प्रभाव बडे, कृत्यो - पर अनिवार्य - पडे ।
अमर-कुटिलता कभी कही ! जा-सकती क्या-नही ! नही !
किन्तु, पथिक तब जग-रोया, जब सर्वस्व लुटा, खोया ।
निज व्रत कभी न टालूँगा, दिये वचन, वे पालूँगा ।
भैमी - हीन अवश्य मरूँ, फिर क्यो, कलुषित सुयश करूँ।
यह सुरत्त्व कौटिल्य भरा, सहन न अब कर सके धरा ।
नष्ट भ्रष्ट होगी सुरता, देव-भक्ति, हा हन्त ! धता ।
हे देवो ! दुष्पथ छोडो, दुष्कृत्यो से मुँह मोडो ।
अब न किसी को ठगो कही, सावधान हो जगो, यही ।
मै, मानवता के वश अब, लुटा, स्वय देकर सर्वस्व ।
पर, यह अजय अमरता की, और विजय ध्रुव! नरता की ।
यो-कह निषधराज द्रुत से, जाने को थे प्रस्तुत-से ।"

"नही शिष्टता को छोडा, और न भय से मुँह मोडा ।
निज प्रण-पर भी सुस्थिर है, मरने को भी तत्पर है ।
और स्पष्टभाषी कितना ! हमने कब, देखा, इतना !
सुनकर देव सुलज्जित थे, बोले-शक्र सु-सज्जित - से ।
सुनो, वचन निषधेश अरे ! क्यो, हो यों, आवेश-भरे ।
वचन पालना कर्म बड़ा, जग-मे है यह धर्म बडा ।
अपना वचन निभाकर यों— धन्य रहो यश पाकर यो ।
अपना स्वय दौत्य करना, धवल सुयश को है हरना ।
अत न हम जा-सके वहाँ, आकर तुमसे कहा, यहाँ ।
क्यो-कि इन्दु-अशी तुम हो, उच्च - चन्द्र-वशी तुम हो ।
सु-यश तुम्हारा बढा - चढा, है सर्वत्र सु - नाम कढा ।
तब निज वचन पूर्ण करना, ध्यान सुरो-का यो-धरना ।

निज-कुल-नाम बढाना है, अतुलित यश फैलाना है।
जग मे ऐसे भी जन है, जो, न निभाते निज-प्रण है।
तनिक स्वार्थ-हित हरे! हरे! उनमे ये दु-र्भाव-भरे।
व्यर्थ कलंकित होते है, पुण्य, पाप से धोते है।
तो धोएँ, अधिकार उन्हे, हुआ देह - से प्यार उन्हे।
पर, वे यह न भूल जॉये, सदा न जग-मे रह-पाये।
यह तन सदा न धरना है, एक दिवस ध्रुव! मरना है।
अमर सुयश नश्वर तन है, आता लौट न गत क्षण है।
समय हाथ से जब निकले, तब क्या - होता हाथ-मले।
नश्वर भोगो को देखो, और अनश्वर यश लेखो।
उस दधीचि से शिक्षा लो, पर-हित-मे निज तन-भी दो।
दान न तन यदि करते वे, तदपि एक दिन मरते वे।
किन्तु, जानता कौन, उन्हे, धन्य, मानता कौन, उन्हे।
जीवित है वह, कहॉ मरा! गाती जिसका सुयश धरा।
फलते देव अभीष्ट सदा, किसका किया अनिष्ट कदा।
शक्ति अलौकिक है हम मे, है प्रकाश हम ही तम मे।
वही बैठ हम सुरपुर - मे, दूत भेज कुण्डिनपुर - मे।
भैमी - को मँगवा लेते, कष्ट न तुमको भी देते।
पता किसी को चलता क्या, पर, यह हमे न खलता क्या।
है यह वही सुरत्त्व महा, जो उस पथ से रोक रहा।
हमे रुष्ट कर पछताओ, तुष्ट न तुम भी रह पाओ।
मानो, यदि तुम नही गये, तो अपयश सिर चढे नये।
मिथ्यावादी होगे तब, कुल की आन मिटेगी सब
हम भी नया विघ्न करके, या दमयन्ती को हरके।
रोक स्वयबर को सकते, हम से सभी लोक थकते।
इधर रुष्ट हो देव-सभी, पत्नी मिले न भैमी-भी।
यों - नृप उभय भ्रष्ट होगे, सुयश - विनष्ट, कष्ट-होगे।
इसीलिए हम कहते है, निन्द्य वचन भी सहते है।

जो होना, सो होता है, सुधी, समय कब खोता है ।
अतः भद्र ! जाओ, जाओ, सन्देशा दे ही आओ ।
अपना वचन निभाकर यों, जग-मे यश फैलाकर यों ।
देव-गेय, निज करो कथा, कहते हम 'स्वस्त्यस्तु' तथा ।
हुए विवश नृप सुनकर यो, कीलित-सर्प कही हो ज्यो ।
पर, सहसा कुछ सोच तभी, छोड, हृदय-सकोच सभी ।
नृप ने कहा—ठीक सब है, प्रस्तुत भी सेवक अब है ।
किन्तु, वहाँ अपना जाना, मैने, महा कठिन माना ।
द्वारो-पर सब ठौर खडे, होगे द्वाराधीश बडे ।
दमयन्ती - के निकट कही, जाने दे वे मुझे नही ।
पहुँच न जब मै पाऊँगा, क्या - सन्देश सुनाऊँगा ।
अत उपाय सुझाओ तुम, मुझे वहाँ पहुँचाओ तुम ।
सुनकर निर्जर सभी हँसे, देखे नल-करि-पक फँसे ।
हो स्मित-वदन शक्र बोले— ओ नलराज, मित्र भोले !
अरे ! बात यह है कितनी, देव शक्ति, क्या-बस इतनी ।
मन्त्र प्रभावित-गति वाली, यह मुद्रिका, शक्रवाली ।
इसे, पहन लेने पर मित्र ! हो जाओगे, परम-विचित्र ।
जहाँ इष्ट, जा सको वही, देख न कोई सके कही ।
इसीलिए तुम इसे पहन— सन्देशा यह करो वहन ।
केवल दौत्य करायेगी, फिर निष्फल हो जायेगी ।
कहकर यो अति मृदु स्वर मे, दी मुद्रिका नृपति-कर-मे ।
अब थे मौन नृपति भौले, तब यो-वचन अनल बोले—
मान - मन्त्रणा मेरी तुम, करो न सम्प्रति देरी तुम ।
दिव्य-गुणो के आकर तुम, हो 'शशि-वश-दिवाकर' तुम ।
अरे ! पूर्ण निज वचन करो, दिग्पालो-का ताप हरो ।
सुयश तुम्हारा विस्तृत-हो, आगत पूर्ण-अभीप्सित हो ।
पुण्य तुम्हारे बहुत बढे, शक्र तथा सुर निकट खडे ।
यह शुभ-अवसर तुम्हे मिला, जाओ, मित्र ! मुखेन्दु-खिला—"

"अरे यशोधन अग्रगणी ! तुम हो विश्रुत धर्म-धनी।
पर-हित-रत,सब कुछ जिनका, भव, आभारी उस ऋण-का।
उस सुधांशु के वंशज-हो, पर-हितकर के अंशज-हो।
अत ठीक ही करते हो, जो, सन्देशा हरते हो।
जाओ, मित्र, शीघ्र जाओ, पुष्पाकीर्ण मार्ग पाओ।
चुप हो वरुण देव जब तक, दुर्दम-यम बोले-तब तक।
हाँ-हाँ जाओ, मित्र अभी, पूर्ण करो यह काम सभी।
शूर यही तो करते हैं, कहकर नही मुकरते है।
तुम जैसो-से ही भूतल— तम - मे पाता है सम्बल।
प्रभु ने जो कुछ हमे दिया, उससे पर-हित यदि न किया।
तो, इस भाँति अनर्थ-भरे— जीवन है, सब व्यर्थ अरे !
फिर, किसको! देवेश कही— देते यो आदेश, नही !
करना, सुर-उपकार मिले, भव-सागर - का पार मिले।
दौत्य-कार्य यह करने-पर, सुर - सन्देशा हरने पर।
जग मे नाम कमाओगे, मुँह-माँगा, वर पाओगे।
फिर सब सुर "हाँ-हाँ" बोले, इधर विवश, भूपति भोले—
हुए समुद्यत जाने को, वचन पूर्ण-कर आने को।
धरी मुद्रिका निज-पट-मे, छिपी-सुधा, मानो घट-मे।
मन-मे थे उद्विग्न हुए, सुर-पद-नत हो, भिन्न-हुए।
बैठ शतक्रतु - के रथ-मे, वायु - समान चले, पथ-मे।
मन मे भाव विविध जागे, ईश्वर ! क्या-होगा, आगे—
भैमी क्या-न मिले मुझको, विघ्न ! मिला मै ही तुझको !
आजा, मृत्यु ! तुही आजा, आ, चिर-शान्ति! मुझे पाजा।
अरी नियति ! मत मुझे सता, निहत-हृदय ! अब तुही बता !
भीम-सुता के पहुँच निकट, मै दूँगा जब वृत्त विकट।
तब भी साथ रहेगा तू, वह दुर्दृश्य सहेगा तू !
तुझे धैर्य धरना ही है, वचन पूर्ण करना ही है।
काम न रह जाये अधभर, फिर तू फट जाना सत्वर।

पृथ्वी - माँ ही सुध लेगी, मुझको विवश जगह देगी।
हाँ, पर इसी बहाने से, कुण्डिनपुर - मे जाने- से।
प्रिय - दर्शन हो जायेंगे, नेत्र - सफलता पायेंगे।
धरा-धाम का सार तभी, क्षण-भर तो मिल जाय सभी।
यदपि, सुरो ने मुझे छला, फिर भी जीवन धन्य! भला।
वचन पूर्ण कर हर्ष इधर, और, प्रिया-का दर्श उधर।
हे यम! तुम आकर उस-क्षण— करना मेरा आलिङ्गन।
हृदय-भाव, रथ-चक्र - भले, लगा होड सी तीव्र-चले।
भारी था राजा-का मन, पर, वह भी था सुर-स्यन्दन।
तुरगो-मे वह सु-गति जगी, जीत उसी के हाथ लगी।
अब सम्मुख कुण्डिनपुर था, धक् धक् करता नृप-उर था।

नगर से बाहर जगह विलोक,
लिया मातलि ने रथ - को रोक।
उतर कर पैदल ही नरनाह—
चले नृप-भीम - सदन की राह।

षष्ठ सर्ग

कही गाना होता, स-दुख-जन-भी है तडपते,
किसी को देते है कुछ, अपर-का वे, हडपते।
हुआ-जाता यो-ही, नियति-नटि का, नाट्य-जग है,
वही है धन्यार्हा, पर-हित-लगे, जो सजग है।

विपरीत हृदय - अभिलाषा के, झोके - मे बैठ निराशा - के।
मुद्रिका पहन अपने कर - मे, घन-घिरा इन्दु ज्यो, अम्बर-मे।
उस भाँति, अदृष्ट नरेश अहा, बन देवदूत, निषधेश वहाँ।
भैमी - दर्शन हो यो - प्रसन्न, पर, मिले न वह इसलिए खिन्न।
यो सुख - दुख के मध्यस्थ चले, मन-मे विचार थे बुरे, भले।
जन उन्हे न कोई देख सका, प्रतिबिम्ब भी न था लेख सका।
सज-धज विलोक कुण्डिनपुर-मे, कुछ हर्ष बढा, भूपति-उर-मे।
सज्जा - मे पुर - जन लगे हुए, निश्शेष शोक दुख भगे - हुए।
पुर - शोभा से दृग छके नही, पद श्रम से भी नृप थके नही।
आ पहुँचा भवन भीम-का अब, सज्जित द्वारेश खडे थे सब।
पक्षी - तक जब न वहाँ जाता, फिर जन प्रवेश कैसे, पाता।
थे घुसे भूप, अदृष्ट होकर, द्वारेशो की मति को खोकर।
ज्यो, विविध वैद्य बुध बैठे हो, रुग्णोपचार मे पैठे हो।
पर, फिर भी प्राण निकल जाता, उनकी न दृष्टि तक मे आता।
द्वारो - पर द्वार चले आते, वे निर्भय - हुए बढे जाते।
अन्त पुर मे यो भूप चले, मन-मे स्मृति के ज्यो, स्तूप-चले।
थे वहाँ, भीम - विश्वासी - जन, वे आते जाते थे क्षण - क्षण।
अपने कृत्यो - मे हुआ मग्न— सविशेष वहाँ था दासी - गण।

थी गूँथ - रही कोई माला, कुछ लाती, ले जाती बाला।
वह वातावरण - विनोद - भरा, लगती थी स्वर्ग-समान-धरा।
वे इधर लिये कुछ आती है, कुछ उधर लिये ये जाती है।
रमणी कुछ मद - मे झूम - रही, सुस्तनी उधर वे घूम - रही।
था हुआ अखाडा परियो - का, वह अन्त पुर, नृप-नरियो - का।
नल बडे सतर्क चले जाते, तिल-मात्र परस-से बच पाते।
कमरो पर कमरे आते थे, बरबस, नृप - दृष्टि लुभाते थे।
आया भैमी का कक्ष तभी, कुछ धडक-उठा नृप-वक्ष तभी।
द्वाराङ्कित था गायन - शाला, थी द्वार-पालिका भी बाला।
नृप ने तब देखा कक्ष वही, जा-चिपके-से नृप-अक्षि वही।
फिर करके अपना उर बलिष्ठ, हो गये कक्ष-मे नृप प्रविष्ट।

"मानो, मन सहसा छला गया, क्रोधित-होकर प्रिय चला-गया।
लुट-गया किसी का सब सहसा, दुर्वृत्त मिला अब दुस्सहसा।
निज - गण्ड हथेली - पर देकर, आहो-के मिस सासे लेकर।
पर्यङ्कासन भैमी - विमला— देखी ज्यो नभ मे इन्दुकला।
थी-यदपि मलिन-सी वदन प्रभा, कुछ-कुछ निकली थी रदन प्रभा।
दृग आकर्षित करती फिर भी, सुन्दरियो-मे वर थी फिर भी।
वीणा - नीरव - सी पास पडी, लगती वह स्वय उदास बडी।
नृप, यह सब देख ठगे - से थे, चित्राङ्कित - से, न जगे से थे।
दृग-भर वह मधुर-कान्ति देखी, विभ्रम ने अहा - शान्ति देखी।
कच थे कन्धो - पर पडे हुए, मुक्ता उनमे थे जडे हुए।
मानों, मणि-मुख की रक्षा-ज्यो, करती उरगो की कक्षा हों।
माथे - पर बेदी दमक रही, मुद्रिका पाणि - मे चमक रही।
पीयूष कनक - घट - मे जैसे, सौन्दर्य, अरुण - पट मे वैसे।
आँखो - पर आँखे पडी अहा, कजरारी थी वे बडी अहा।
पी सुन्दरता नृप - नेत्र - खिले, कब किसको यो-आस्वाद मिले।

आयी सखियाँ उस ठौर तभी, बैठी उसके चहुँ ओर सभी।
उनसे आवृत भैमी थी यो, पत्रो-से पुष्प घिरा हो ज्यो।
अब थी न उसे, उनसे ब्रीडा, थी विदित उन्हे भैमी - पीडा।
शोकित - सा भैमी का रहना, सपनो - मे निषध-नाथ कहना—
सब सुविदित था यह सखियो-को, उन-हृदय-दर्शिनी अँखियो-को।
वे भैमी - को समझाती थी, गुण निषध नाथ के गाती थी।
कुछ धीरज तब उसको आता, पर, शीघ्र हवा-सा उड जाता।
अब, सोच - निमग्ना देख उसे, मुकुलित-कलिका सी लेख उसे।
कर पकड केशिनी यो बोली— सखि! हाय, स्वस्थता सब खोली।
समुचित है क्या-यह तुम्हे कही, सँभलो, सँभलो, यह ठीक नही।
मत - यो अपने मन - को मारो, है देर न, कुछ धीरज धारो।
क्या - पूर्ण तपस्या है न अरी! समझो, तट पर आ-गई तरी।
इसलिए! उठो, बैठो, आओ, घूमो, बोलो, खाओ, गाओ।
इस - भाँति पडी पछताओगी, माँ - समझे, छिपा न पाओगी।
दमयन्ती बोली—अरी - सखी! क्या - स्वय दशा यह मैने की।
मै समझ न कुछ भी पाती - हूँ, क्यो-दिन-दिन घुलती जाती-हूँ।
कुछ आग हृदय - मे लगती है, जिससे तन ज्वाला, जगती है।
लगती न भूख - निद्रा आती, धड - धड करती रहती छाती।
मै, तट पर जाने के हित ही, करती न यत्न क्या-नित-नित-ही।
पर, ज्यो-हो कुछ तट-पर जाती, त्यो-निज-को अधभर-मे पाती।
लगता कुछ सदा अभाव मुझे, सुखकर न, सुखद प्रस्ताव-मुझे।
है अनल हृदय - मे लगी हुई, उपवन, घर-बाहर जगी हुई।
हा, इसी अनलता ने मुझको, सखि! घोर विकलता ने मुझको।
अब हाय! बनाया ऐसा है, मन अरी! न जाने कैसा - है।
जिसको माँ, रोग समझती है, कर-करके, औषध थकती - है।
सखि! रोग न यह कुछ और बला, जिसने अबला को हाय! छला।
यह शान्त न हुई अनलता जो, तो, क्या-जाने, आली, क्या हो।"

"हम अभी सरोवर जाती है, बहु-खिले, कमल ले आती है।
तुम लगा उन्हे उर-से लेना, यों-शान्त अनलता कर देना।
यो-कहकर वे सब जाने को, प्रस्तुत-थी नीरज लाने को।
"ये सब जाये तुम यही रहो, केशिनि! बैठो कुछ बात कहो।"
दमयन्ती ने यो बात कही, सब गई, केशिनी रही वही।
वह लगी विनोद विविध करने, भैमी-का मनस्ताप हरने।
बातो-के बीच फँसाकर-ही, छोडी भीमजा हँसाकर-ही।
दुखिनी को पाकर खडे, खडे, नल स्वय वितापित-हुए बडे।
मन हुआ, विवश ऊला, ऊला, सन्देश उन्हे सारा भूला।
"हा-हा, इस कमल-कली के हित, क्या-बनूँ तुषार करूँ दुहित।
पर, ऐसा मुझसे हो न सके, क्या-जीभ न यह जड बने-थके।
यह प्रेमानल-मे जलती है, सहचरियो को यो-छलती है।
है कितनी मीठी-सी भोली, किस-भॉति चतुर, छल सेबोली।
मेरी अप्राप्ति, अनलता यह, प्रस्ताव हृदय-को छलता यह।
यह अबला होकर भी इतनी, दृढ है अपने पथ-पर कितनी।
हूँ मै-भी इतना तप्त कहॉ, देखा, अब जितना इसे यहॉ।
ओ कुटिल-देव-से प्रेरित-मन! तू क्यो बैठा-जाता इस क्षण।
सुर-सन्देशा हरना-ही है, निज-वचन पूर्ण करना-ही है।
होना था मूक भला-मेरा, वश किन्तु, न तनिक चला मेरा।
अब कहना वह इससे होगा, देवों-का हित-जिससे होगा।
"हे भैमि! वरो तुम देवो-को, स्वीकार करो, उन देवो को।"
पर, इसका भी तो हित इससे, यह नरी-बने, देवी जिससे।
यह सुखकर सन्देशा इसको, मै, स्वय प्रेम करता जिसको।
यदि दिया न तो, क्या-प्रेम-रहा, जिसमे प्रेमी-का क्षेम-बहा।
अब स्वर्ग-लाभ होगा इसको, वह मिलता यो-सदेह किसको।
तब, मुझको भी ध्रुव सुख होगा, हॉ-स्वय सहूँ, जो दुख होगा।
सचमुच देवो-के योग्य यही, पार्थिव नर-का यह भोग्य नही।
फिर, स्वयं चाहते-देव जिसे! तब देवी होना उचित-इसे।

सचमुच, नारद ने ठीक कहा, यह है जग - में सुन्दरी-महा ।
पर, उनका वह आशीस अभी, होने-को चला, असत्य सभी ।
विधि-के आगे क्या-वश चलता, दुर्भाग्य ! हाय, सबको छलता ।
मम वचन - पूर्ण, यह देवी हो, सुरपति-की युग-पद-सेवी हो ।
दोनो प्रकार मेरा - हित है, तब, वृत्त-निवेदन समुचित है ।
यो-सोच, भीमजा - हास्य - संग, नृप-हुए मुद्रिका-शून्य - अङ्ग ।

कोणस्थ - पुरुष सहसा देखा, मुँह - पर दौडी भय-की रेखा ।
जो, साडी खिसकी पडी - हुई, सिर-पर वह उस-ही घडी-हुई ।
सहसा-धीरज एकत्रित-कर— निजमन-मे अतुलित-साहस-भर ।
सुन्दरता - मिस-कर क्षमा-उसे, बोली - दमयन्ती - रमा-उसे ।
"तुम कौन ! यहाँ आये कैसे ! तस्कर की-भाँति खडे ऐसे ।
क्या - द्वारेशो ने तुम्हे कही, आने - से रोका - यहाँ नही ।
किस साहस-पर पद यहाँ-दिया, कितना गुरुतर अपराध किया ।
कुल-नाम बता कर अभी, अभी, जाओ, बस-है अब-क्षेम-तभी ।
रक्षक अन्यथा अभी आये, वे तुम्हे, पकडकर ले - जाये ।
राजाज्ञा से मारे-जाओ, भागो, सत्वर, नृप-भय-खाओ ।"
"हे सुमुखि ! भय न मन-मे मानो, तस्कर-दुर्जन न मुझे जानो ।
मैने, प्रवेश जो यहाँ किया, अपराध-कार्य यह महा-किया ।
अनिवार्य-कार्य-वश ही मैने, हे सुन्दरि ! त्रुटि यह की मैने ।
चल-दूँगा, सन्देशा देकर— देवो-की तरणी को खे-कर ।
पर, भीति किसी की मुझे कहो, हे देवि ! विश्व मे आज नही ।
विवुधो-का बनकर दूत-यहाँ— आया, जन-आ-सकते न जहाँ ।
कोई भी मुझे न देख-सके, प्रतिबिम्ब न मेरा लेख-सके ।
फिर पकडेगा, कोई कैसे ! हम - देव - दूत, देवो - जैसे ।
मै, द्वार-द्वार पर होकर-ही— आया, जन सके-विलोक नही ।
मै सभी ठौर-जा-सकता हूँ, पर, दृष्टि-मे न आ-सकता हूँ ।

देखो, यदि हो विश्वास नही, सहसा, नृप हुए अदृश्य-वही।
पल-भर मे ही फिर दीख-पडे, उस कोने मे थे वही-खड़े।
बोले—इसलिए, न भय - मानो, मेरे हित शका-क्षय-जानो।
चित्रित-सी जिनकी अँखियाँ थी, विस्मित-सी दोनो सखियाँ थी।
है शक्ति अनन्त-देव-गण की, धारणा स-मूर्त्त हुई मन-की।
"अच्छा लो, सुनो, सुनाता-हूँ, फिर शीघ्र यहाँ-से जाता-हूँ।
देवेन्द्र, वरुण, यम, अग्नि तथा, जग-विश्रुतजिनकी-कीर्ति-कथा।
मै, दूत उन्ही-का देवी हूँ, उन, पूत-पदो-का सेवी हूँ।
हे देवि! तुम्हारे प्रेमी वे, तीनो-लोको-के क्षेमी-वे।
तुमसे विवाह करना चाहे, कर स्मरण, तुम्हे-भरते-आहे।
अब आया-निकट स्वयम्बर-है, जिसमे तुमको चुनना वर है।
जिसको तुम चाहो, अत उसे, पर, उन चारो, देवो-मे से—
वर-लेना, वर-माला देकर, हे तन्वि! वृत्त यह-ही लेकर।
मुझको, सुरपति-ने भेजा-है, प्रेमोचित - पन्थ - सहेजा-है।
देने-मे यह सम्वाद शुभे! मुझको है हर्ष अगाध - शुभे!
ऋषि-मुनि, जन्मो-जन्मो ही मे— रत-रहते शुभ - कर्मो-ही मे।
तब कही, स्वर्ग-मे जा पाते, हो पुण्य-क्षीण तो, फिर आते।
वह अवसर, बिना प्रयास तुम्हे, देने आया, सुर-दास तुम्हे।
क्या-भाग्य तुम्हारा धन्य, नही, है आज न तुमसी अन्य-कही।
देवी-निश्शक बनोगी तुम, सुत देवमयक-जनोगी तुम।
उन देवो-के गुण को गाना, है रवि-को दीपक दिखलाना।
विदुषी-हो, है पहचान-तुम्हे, हित, अनहित-का है ज्ञान तुम्हे।
वे-इन्द्र सुरों-के शासक-है, उनके सब लोक उपासक-है।
उन, देवराज-को छोड कही, कर-सका अन्य शत-यज्ञ नही।
राक्षस अनेक हो गए बली, पर, एक न शक्र-समक्ष-चली।
सब दुष्ट मही-से बीन-दिये, गिरि-तक भी पक्ष-विहीन-किये।
दस-दिशा उन्होने जीती-है, सब पूर्ण, शक्र-मनचीती-है।
यज्ञो-मे भाग निकलता है, पहले उनको ही मिलता-है।

करती सुर-धेनु निवास वहाँ, है कल्प-वृक्ष-सा दास वहाँ।
क्षण-मे इच्छा पूरी होती, सुख,तनिक न आधि व्याधि खोती।
तुम उनको वर-माला देना, सुख-स्वर्ग, सदेह सुमुखि ! लेना।
है शक्र, बली, सुन्दर मानी, तुम बनना उनकी पटरानी।
अप्सरा, किन्नरी, और शची, मानो, तेरी सेवार्थ-रची।
आदेश तुम्हारा-पाले-वे, हाँ-नही तनिक भी टाले-वे।
सुर-पति के कर-मे कर होगा, अधिकार दिशाओ-पर होगा।
देवाश्व-सवारी-के हित वह, हो हृदय हर्ष नित, नित ही अह।
प्राणो-से भी सविशेष तुम्हे—— रक्खे, हे सु-मुखि ! सुरेश तुम्हे।
इसलिए, न यह अवसर छोडो, मत स्वर्ग-सुखो-से मुँह-मोडो।
है समय, न धोखा खा-जाना, फिर पडे सदा ही पछताना।
नभ-सरि मे स्नान किया करना, नन्दन-मे गान-किया करना।
देवामृत पान किया-करना, मुँह-माँगा दान किया करना।
नभ-भूमि, अचल या जल-थल मे, पहुँचो इच्छा-ही से पल-मे।
करना सर्वत्र विहार अहा, पाना सुरपति का प्यार महा।
छू-सके न कोई शोक तुम्हें, हो प्राप्त स्वत सब-लोक-तुम्हें।
सब सुर इस मुख-को ताकेगे, कितना न मूल्य-वे आँकेगे।
यह अवसर मिला किसे ! कब, कब ! मिल-रहा सुमुखि ! जोतुमको अब।
है अन्य, वरुण आशाधारी, स्थित हैं जिनपर जगती सारी।
कल्याण जगत का होता है, दुष्काल उन्ही से खोता है।
यह सिन्धु महा वरुणालय है, ससृति-हित जो करुणालय है।
मणि-मुक्ता हीरक लाल जहाँ, जग पाता है धन माल वहाँ।
तुम पकड वरुण का 'कर' कर-मे, करना कल केलि उसी घर-मे।
श्री ने भी हरि को ग्रहण किया, वरुणालय-मे ही रमण किया।
श्री स्वय वही से है निकली, थी सुधा-सुरो को वही मिली।
सब देव वरुण के आभारी, पूजे उनको जगती सारी।
चौदह रत्नो की प्राप्ति हुई, अब भी पर, नही समाप्ति हुई।
कितने है रत्न वहाँ अब भी, होगे वे करगत तुम्हे सभी।

काटे गिरिपक्ष इन्द्र ने जब, दी शरण वरुण ने उनको तब ।
अपने घर उन्हे छिपाया था, कुछ भय न शक्र-से खाया था ।
पाशी से निज को समझ अवश, कुछ चला था न मघवा का वश ।
अब वरुण शरणागत गिरि होकर, बसते है वही-भीति-खोकर ।
पाशी के यशोगीत गाते, सुरपति से कुछ न भीति पाते ।
इसलिए शक्र बल को भी कम, कर गया वरुण-का ही विक्रम ।
उस पराक्रमी की होकर तुम, पी सुधा, दुखो को खोकर तुम ।
जलदस्थित भ्रमण रमण करना, जग वन्द्या बन, जगभय हरना ।
है अग्नि परम तेजोधारी, जिनसे जगती कम्पित सारी ।
उनसे सब देवो-को सुख है, इन्द्रादिक का वह ही मुख है ।
सब देवो के अवलम्ब वही, इस सकल विश्व का स्तम्भ वही ।
हाँ, सदा ऊर्ध्वमुख भला कही— जगमध्य अनल को छोड नही ।
जग उनका बन्दन करता है, सुरगण अभिनन्दन करता है ।
वे अनलदेव सब कुछ खाते, इसलिये सर्वभुक कहलाते ।
यदि रुष्ट किसी से ये होते, अणु अणु उस का जग-से खोते ।
उनके ऋषि मुनि सब है स्नेही, उनको नित नित पूजे गेही ।
कोई भी तो सँस्कार कही, हो पाता उनके बिना नही ।
उनसे है स्वय वरुण डरते, जब अनल स्वनेत्र अरुण करते ।
बडवानल रूप बनाते है, तब वरुणदेव कँप जाते है ।
कोई भी बचा न सकता है, चल अचल अनल से थकता है ।
है अत. वरुण से बढकर वे, बल रूप गुणो मे चढ कर वे ।
भिक्षुक वे आज तुम्हारे है, निज सब कुछ तुम पर वारे है ।
चाहो यदि तुम तो वरो उन्हे, भैमी ! निज प्रियतम करो उन्हे ।
सुन्दरि ! उनसे अति हित होगा, जग मे पूजन नित-नित होगा ।
ऐसा न मिलेगा स्वर्ण-योग, नर को न सुलभ है देव-भोग ।
इसलिये वरण उनको करना, हाँ, सम्मानित गुण को करना ।
वे चौथे निर्जर दुर्दम यम, है जो न किसी भी सुर से कम ।
वे सब का न्याय चुकाते है, यों धर्मराज कहलाते है ।

है सब से अधिक प्रचन्ड वही, देते दण्डयों को दण्ड वही।
उनसे कोई भी जीव कही, हे कमलदृगी ! बच सके नही।
वे जिसको भी हरना चाहे, जिसको गतासु करना चाहे।
उसको न बचा कोई सकता, उनसे सब देव वर्ग थकता।
उनका है ऊँचा स्थान सदा, वे पाते सब से मान सदा।
उनको सहयोगी बना, बना, देवो ने दुष्ट-समूह हना।
वे नित नित परिवर्तन करते, अन्तक बनकर नर्तन करते।
सब बली, गुणी, मानी, ध्यानी, हो दुष्ट दनुज या कल्याणी।
उनके समीप सब जाते है, निज कृत्यो का फल पाते है।
वे रखते हैं सब का लेखा, गणितज्ञ न है उनसा-देखा।
कोकिलकण्ठी ! यदि उन्हे वरो, तो निज सब प्रिय-जन अमर करो।
जिसको चाहो, वह मरे-नही, तुम से हो कुछ भी परे-नही।
है एक एक से बली गुणी, सुन्दर, यश वाला, धर्म-धुनी।
अब सोच-समझ कर बतलाओ, लज्जा न तनिक इसमे पाओ।
बतलाओ देवि ! वरो किसको, है कौन कृतार्थ करो जिसको ?
क्या नाम विवुध का है उसका, तुमने सकल्प किया जिसका।
मुझको यह उत्तर लेना है, जाकर देवो-को देना है।
मेरा तो है सुविचार यही, मन भी कहता हर बार यही।
तुम सुरपति को ही वर लेना, उनके ही कर मे कर देना।
या जिसकी इच्छा उसे वरो, स्वेच्छा-से एक पसन्द करो।"
"कुछ कहने की अभिलाषा थी, हो जाती किन्तु निराशा थी।
कहने का समय न पाती थी, कहती-कहती रह जाती थी।
पर, करा कक्ष से अनुमोदन, चुप-हुए अमरसेवक जिस क्षण।
बोली भैमी, स्मित-सी हो यो, खिलती हों नव कलिकाये ज्यो।
हे दूत ! चतुर तुम जान पड़े, सुर विषयक तुमको ज्ञान बड़े।
फिर भी विस्मय! तुम क्यों ऐसे— बोले हो विक्षिप्तों - जैसे।
मैने तुमसे क्या प्रश्न किया, तुमने उत्तर किस-भाँति दिया।
मैंने पूछा कुल नाम तथा, तुमने यह कही विचित्र कथा।

पद-मे आघात आँख फ़ूटी, यह वही कहावत अब झूठी—
चरितार्थ न क्या तुमने की है, फिर भी कहना सुन्दर-ही है।
क्यो, नाम न अपना कहते हो, किस जनपद-मे तुम रहते-हो।
किस कुल को तुमने धन्य-किया, किस माँ-को भद्र! अनन्य किया।
अवलोक तुम्हारी सुन्दरता, है यह देवत्त्व, नही नरता।
बर बस विश्वास यही होता, तुम-सा तो दास नही होता।
हे भद्र? मुझे है खेद यही, क्यो विदित सुरो-को भेद नही।
मै निशि दिन उन्हे सुमरती हूँ, नित-नित-ही अर्चन करती हूँ।
किस लिये? न है क्या ज्ञान उन्हे, भक्तो की नहि पहिचान उन्हे।
भेजा फिर भी यो सन्देशा, भेजा न कही पहिले जैसा।
तुम कहते हो मेरा ही हित, कहना पडता पर खेद सहित।
हित भी न मुझे यह स्वीकृत है, क्या-करूँ, विवश यह ही व्रत है।
वर चुकी स्वयबर बीत गया, अब तो यह लगता गीत नया।
कार्यान्वित करना शेष - रहा, सन्देह न इसमे लेश - रहा।
पा समय, वही पूरा होगा, या इस तन का चूरा-होगा।
कहते - कहते लज्जा आई, अरुणिमा कपोलों - पर छाई।"
"है भला कौन परिचय मेरा, मै - दूत, देव पद - का चेरा।
बिन पूछे भेद बताना ही, या बिना बुलाये जाना ही।
होता दूतो का काम यही, इसलिये धृष्टता मैने की।
जिनका तुम पूजन करती - हो, जिनको दिन रात सुमरती हो।
वे है प्रसन्न वर देते है, जो स्वय तुम्हे वर लेते है।
वर बनकर स्वय उपस्थित है, करते न तुम्हारा क्या - हित है।
इससे भी अति फल पूजा का, तुम कहो सुमुखि! वह दूजा क्या।
किसको वर लियग कहाँ वर है, वह कोई सुर अथवा नर है।
होता विस्मय सचमुच मुझको, वह भेद बताओ सच मुझको।"
"हे दूत निषध के स्वामी - वे, है गुणियो के अनुगामी वे।
उनका भैमी ने वरण किया, नल ने इनका मन हरण-किया।
संकल्प किया उनका इसने, यह मान किया गुण का इसने।

जब भैमी लज्जित-सी देखी, कर्त्तव्य - निमज्जित - सी देखी।
तब नृप से बृत्त केशिनी ने, यो-कहा, सुमञ्जु वेशिनी ने।
सुनकर सुरदूत हँसे - कैसे, खिल गया इन्दु नभ मे जैसे।
रदनो की कान्ति फूट निकली, बोले-फिर नृप यो-गिरा भली।
यदि सोच समझ तुम बोली हो, तो सचमुच कितनी भोली-हो।
दिग्पाल कहाँ नल भूप कहाँ ! सुरसरी कहाँ, जल-कूप कहाँ।
वर लिया अगर तुमने नल है, तो किया न क्या निज-से छल है।
यह तो सोचो नल है कितना ! उन सुरो के न दासों जितना।
फिर वरण मानसिक भला कही, रखता सत्ता कुछ, नही ! नही !
यह स्तुत्य न कर्म तुम्हारा है, शोभन न सुतन्वि ! विचारा है।
इसलिये अशोभन पन्थ तजो ! नल को तजकर, दिग्पाल भजो !
यदि निषध नाथ पर सुमन चला, हो गया अहित तो कौन भला !
कार्यान्वित करने से पहिले, सबको ही विविध विचार भले—
होते रहते है, सभी कही, पर, होते वे सब सफल नही।
सुर सम्मुख नल नृप को वरना, है क्या-न मूर्खता का करना।
नल सम्मुख स्वर्ग छोडना है, तो काँटो - बीच दौडना है।
इसलिये बताओ धैर्य-धरो, किस लोक पाल को वरण करो।
यह कहकर नृप चुप हुए तभी, पर थीं सुस्थिर दमयन्ती भी।
सह सकी न यह नृप की बोली— कर क्षिप्त अत लज्जा-झोली।"
"बोली—हे दूत ! अहा-तुमने, क्या-यह न अपूत कहा तुमने।
मनका क्या कुछ सकल्प नही, उससे बढकर क्या वचन कही।
जिसको सर्वस्व सौपना है, निज मन मे जिसे रौपना है।
क्या वे-नित नित बदले जाते, नित नव हृदय-मे ठौर पाते।
देवालय-की क्या मूर्त्ति कही, बदली जाती है नित-नित ही।
आर्याओ का यह कर्म नही, सकल्प छोडना धर्म नही।
वर चुकी जिसे वे एक बार, जीवन भर उसको करे प्यार।
यदि, उनका भी सकल्प बहा, तो, क्या आर्यत्त्व विशेष रहा।
सुख स्वर्ग न मुझको लुभा सके, आवे देखे वे सभी थके।

मै, मोद मान-मर सकती हूँ, प्रण भग न पर, कर सकती हूँ।
देकर तन मन धन-रूप-मूल्य, पूजा देवो - को पिता-तुल्य।
वे वर न मुझे क्यो त्यो देते, सब पिता सुता-हित ज्यो देते।
उनसे है आशा मुझे यही, मै कभी वरुँगी उन्हे नही।"
"सोचो भैमी शीतल मन से, मुह मोड़ रही कैसे धन से।
देवो - को असन्तुष्ट करना, है यह ही जीते - जी मरना।
उनकी इच्छा विपरीत - कही, तुम वर पाओगी कभी नही।
वे, सबल तुम्हे हर सकते है, या-और विघ्न कर सकते है।
मरना भी उनके बिना कही, होता जीवो को प्राप्त नही।
मर कर भी क्या, बच पाओगी, सोचो कैसे मर - जाओगी।
हाँ---अन्तरिक्ष मे कहो कभी, तुम क्या-न रहोगी मर कर भी।
तुम क्या-सब जीव घूमते है, कुछ बेला वही भूमते है।
उसके स्वामी वे सुरपति है, बच कही न तब उनसे गति है।
यदि मरो सलिल मे डूब कही, तो क्या न वरुण-की शरण-वही।
यदि मरो, जलाकर निज तनको, तब खुद ही अनल-समर्पण हो।
मरने पर न्याय चुकायेगे, यम क्या न तभी अपनायेगे।
आनाकानी तब एक कही, हे इन्दुमुखी ! वे सुने नही।
इसलिये भला है इसमे ही, कल्याण छिपा, यो जिसमे ही।
देवो को ही तुम प्यार करो, अब कहो किसे स्वीकार करो"
"दिखला कर व्यर्थ प्रलोभन यो, करते है आप अशोभन क्यो।
यह भीति व्यर्थ दिखलाना है, वह दृढ है, जो मन माना है।
इन्द्राणी बनना कभी कही, करती मै तनिक पसन्द नही।
हे दूत ! स्वर्ग भी बन्धन है, जब एक अवस्था-मे जन है।
है सुलभ वहाँ सुख भोग सदा, यह, कर्म-प्रवृत्ति कहाँ, वरदा !
प्रियतर है यह ही लोक हमे, मिलते युग सुख या शोक हमे।
उपभोग न कुछ करके दुख का, है भला मूल्य ही क्या सुख का।
नर-सुलभ, मोक्ष का अवसर है, क्या श्रेष्ठ न फिर सुर से नर है।
यो भला स्वर्ग मे धर्म कहाँ, इस लोक तुल्य है कर्म कहाँ।

है तन-का लाभ कर्म करना, देता है स्वर्ग, धर्म करना ।
यज्ञो - से देव तुष्ट होते, इस विध सब पन्थ पुष्ट होते ।
फिर निर्दोषी को कभी कही, दण्डित करते सुर-सौम्य नही ।
कर विविध सु-कर्म स्वर्ग-पाना, है रोक न सकते सुर नाना ।
कर चुकी वरण जिसका मन-मे, निश्चल है मन उस ही धन-मे ।
इसलिए स्व-परिचय अब देकर, मेरा सन्देश नम्र - लेकर—
सुर-गरा को प्रणति-सहित देना, हूँ विवश क्षमा दिलवा-देना ।
पाण्डित्य - पूर्ण उत्तर सुनकर, उसको मन-ही-मन मे गुनकर ।
सहसा नृप हुए प्रसन्न बडे, बोले-पर फिर भी खडे खडे ।
हे भैमि ! सुरो के आगे - वे, सोचो, निषधेश अभागे - वे ।
कैसे, तुमको वर सकते है, सुर नल-को ही हर-सकते है ।
नल नर है बल है ही कितना, सुर-वैर करे क्या-उस जितना ।
इसलिए कार्य सविवेक करो, अब कहो, भीमजे ! किसे वरो ।
यो-दूत गिरा सुनकर भैमी, सच समझ उसे सहसा सहमी ।
बोली - साहस एकत्रित - कर, हे दूत ! भला-जगती-मे नर—
सतियो - की धर्म महत्ता-को, उस देव-दुर्लभा - सत्ता को—
क्या जानेगे कितनी है वह, हम खुद जाने, जितनी हैं वह ।
क्या एक-स्वर्ग ! त्रिभुवन का सुख, कर सके न हमको धर्म-विमुख ।
तुम ध्यान न वह कुछ धरते हो, इसलिए, दुराग्रह करते - हो ।
सुख भोगूँ, होकर धर्मभ्रष्ट, उससे पहले हो देह नष्ट ।
भावी कब टालो टली कही, कब जन-की इच्छा फली कही ।
मै मुदित दुखो - को झेलूँगी, सौ, सौ, साँपो-से खेलूँगी ।
आमरण यातना भले-सहूँ, मै, क्यो - न नरक मे सदा-रहूँ ।
व्रत भग न पर कर सकती हूँ, अब अन्य को न वर सकती हूँ ।
कहते - कहते रो - पडी आह, सँभला न वेदना का प्रवाह ।
हिडकी बँध-गई दृगो-में जल, भर-गया कि,हो ज्यो सजल-कमल ।
मूर्च्छा का वेग बढा सहसा, नृप को भी दुख था दुस्सहसा ।
केशिनी देखकर हुई त्रस्त, थी धीरज-धर उपचार-व्यस्त ।

उपचार रग अपना लाया, कुछ उसे होश-मे ले आया।
थी पूर्ण सजगता कहाँ अभी, कुछ नेत्र खोलती कभी-कभी।
हा-निषधनाथ इतना कहकर, चुप-हो जाती दुख-मे बहकर।
बोली-केशिनी, सखी-सभलो! आ-जाये निषधनाथ जब-लौ।
दुख सभी दूर हो जायेगे, निश्चय! वे तुमको पायेगे।
यह सुन भैमी ने दृग-खोले, पर, रुद्ध-कण्ठ-से क्या-बोले!
कुछ देख-रही टकटकी लगा, नृप-का भी प्रेम प्रवाह जगा।
कर्त्तव्य-मूढ-वे हुए तभी, बिसरायी अपनी दशा-सभी।
अब कहाँ स्वय को रोक सके, रमणी दृढ प्रण-से जके, थके।
बरबस मुख-से यो गिरा हुई, भैमी सुनकर अस्थिरा हुई।
"जिसके हित सब कुछ त्यागा है, यह सम्मुख वही अभागा है।
मै निषध-देश का स्वामी हूँ, नल हूँ कुमार्ग-अनुगामी हूँ।
धिग् धिग् है मुझको अरी प्रिये, जो कष्ट तुम्हे है आज दिये।
पर, विवश वचन पालना पडा, है स्वय मुझे भी शोक बडा।
हूँ धन्य! मुझे तुम जैसी-का, सत्प्रेम मिला जो यह नीका।
परिचय देना तो था न उचित, पर, यह सब किया तुम्हारे हित।"
अब सखियो को विस्मय भी था, लज्जा-मिश्रित कुछ भय भी था।
ये वचन सरस तब दवा-हुए, सुन, सब भैमी-दुख हवा हुए।
मुँह-पर आरुण्य उभर आया, आँचल-खिसका, उस-पर छाया।
मानस मे अति आनन्द हुआ, वह इसी लिए सस्पन्द हुआ।
विस्मित केशिनी तभी बोली— क्यो तुमने ठगी प्रिया-भोली।
कितना छल तुमने किया नही, आते ही परिचय दिया नही।
तुमने यह पीडा क्यो-दी है, या-प्रेम-परीक्षा-यो-की है।
"केशिनी! नही छल किया यहाँ, सुर-सन्देशा ही दिया यहाँ।
मै-भी यो-ही दुख पाता-हूँ, पर, गुण भैमी-के गाता-हूँ।
विधि-सदा ठीक ही करते है, वे ही सबके दुख हरते है।
अब जैसा ये समुचित जाने, सब करे वही, न भीति माने।
सखियो का सुन कोलाहल-सा, हो गये नृपति अदृश्य सहसा

जा दिया वृत्त-देवो को तब, सुनकर क्रोधित थे निर्जर सब।
समझे-उस को हम उस बेला, जब करे हमारी अवहेला।
पर, हो कृतज्ञ नृप मान किये, सबने उनको वरदान किये।

भोगो, अक्षय - स्वर्ग, नृपति-से सुरपति बोले——
सदा सहायक रहूँ, अनल-तब वर-मति-बोले।
कहा - वरुण ने काम तुम्हारे मै आऊँगा,
करो मुझे जब याद उपस्थित तब पाऊँगा।
बोले-यम हे भूप ! तुम्हारे हम आभारी,
तुम हो सुदृढ - प्रतिज्ञ, सुरो-के भी उपकारी।
पाक-शास्त्र - मे विज्ञ न कोई होगा तुमसा,
कहकर हुए अदृष्ट वहाँ-सब निर्जर सहसा।
सोचती थी भैमी मन - मे
हुआ यह क्या - से क्या-क्षण - मे।
अहा, वे सुन्दर है कितने !
और है वाक्चतुर इतने !

सप्तम सर्ग

(१)

वह निकट कुण्डिन नगर के, शुचि-भूमि-पर मण्डप बना,
अति-दिव्य-सज्जा-से सुसज्जित, दीप्तिमान हुआ-घना।
प्राकार-चहुँधा, धवल, उन्नत, सजग-प्रहरी सा खडा,
परिखा-वलय जिसके चतुर्दिक, सिन्धु-सा, सोया-पडा।
अति-मण्डिता-मण्डप-अवनि-के, मध्य शुभ्र-वितान था,
जिसके सकल सीमान्त-पर, मुक्ता-निकर द्युतिमान था।
है उड-रहे ध्वज, गगन-मे, चहुँ-ओर गौरव-से भरे,
मण्डप विशाल, न नेत्र-पथ-मे छोर आते वे, परे।
वह बीच मण्डप-के चँदोवा, लग-रहा मोहक बडा,
जो, स्वर्ण लतिका-आदि से, है शिल्प-विज्ञो ने जडा।
मृदु-कदलियो के द्वार, कैसे, भव्य-उन्नत-सिर-खडे,
जो, स्वागतार्थ समागतो के, हो-रहे उत्सुक बडे।
अह, अभ्र-शुभ्र-वितान से मण्डित, महा-महिमा-मही—
कुण्डिनपुराधिप के सुयश-को, व्योम-पर बिखरा-रही।
अतिकान्त-मण्डप-मध्य-मे, थी भव्य-विस्तृत-वेदिका,
भैमी-स्वयबर के विभव-की सरस, मौन - निवेदिका।
है बेलि-बूटो से रचित, शोभा वहाँ - छाई हुई,
मानों, स्वयबर देखने, लक्ष्मी-स्वय आई हुई।
उस वेदिका-में स्फटिक-मणि की, लग-रही खण्डावली,
शरदिन्दु-की वह चाँदनी-सी, शोभती कितनी भली।
माणिक्य-मणि, बहुमूल्य, उसमे ठौर, ठौर, लगे-हुए,
सित-पक्ष-के आकाश-मे नक्षत्र-तुल्य-जगे-हुए।
सोपान चारो ओर, जिन-पर वस्त्र-हैं सुन्दर-बिछे,
उन पर सुनहरी काम के, वे बलि-बूटे है खिचे।

वे स्तम्भ, निर्मित-काष्ठ के, चहुँ-ओर सज्जित से खडे,
सिर-पर टिका मण्डप गगन, तन-पर रँगीले-पट पडे।
थी चढ-रही उन-पर लता, पुष्पादि से वे सज्जिता,
मधु-हास-सा बिखरा-रही, सद्‌गन्ध-प्रेम-निमज्जिता।
बहु गुच्छ पुष्पो-के लटकते, दिव्य-से मण्डप-तले,
मुँह वेदिका-मे देखने, क्या-स्वर्ग से आते चले।
द्वारेश-गण से युक्त चारो ओर तोरण द्वार है,
उस ओर सिह-द्वार पर अभिगीत मगल-चार हैं।
ये कलश, दोनो ओर सिह-द्वार के, जल-से भरे,
हर्षित खडी कुछ तरुणियाँ थी द्विघट निज-सिर-पर धरे।
उस द्वार-के शुभ भाल पर, था चिन्ह स्वस्तिक का जडा,
बजते सुखद वादित्र स्वर था, हो रहा मादक बडा।
सज्जित खडे सैनिक, सभी के भव्य सुगठित देह थे,
मुख-मधुरिमा-नद से, सभी - पर छोडते सु-स्नेह थे।
मण्डप-तले उस वेदिका पर मच शोभित-हो रहे,
आसीन होने को जहाँ सुर-गण विलोभित-हो रहे।
ऋषि, मुनि तथा विद्वत्समागम-ध्यान रखकर पूर्व-से,
आसन पृथक् वे बिछ-रहे, बहु-मूल्य, मञ्जु, अपूर्व-से।
उस ओर है वह स्थान दर्शक-मण्डली के हित-सजा,
सुरपति-सभा के तुल्य वह मण्डप सभी समुचित सजा।
थे बज-रहे बहु शख, द्विजपति साम-गायन कर रहे,
गन्धिक मनुज उस स्थान को वर-गन्ध से थे भर रहे।
थी जगमगा-सी सब-रही, वह शिल्पियो - की चातुरी,
निज सरस स्वर बिखरा-रही, बजकर रँगीली बाँसुरी।
इस ओर ध्वनि-सकेत था, उस ओर वह बाजा-बजा,
'आने लगे सब', यह बताने के लिए फहरी-ध्वजा।
होने लगा-उस ठौर कोलाहल, अतिथि आने लगे,
सब लोग अपने योग्य, वर आसन वहाँ-पाने लगे।

सुरपति, नृपति सब आ गये, सब के मनोहर वेश है,
शरदिन्दु - से है वदन, घन-से श्याम-सुन्दर-केश है।
भीने-पटो से फूट, तन की, कान्ति बाहर आ-रही,
वैचित्र्य-से परिपूर्ण, सब पर ही, द्विधा-सी छा-रही।
मण्डप खचाखच भर गया, सब देखते अन्योन्य को,
यह है न सुन्दर, बस मुझे ही, आज भैमी-प्राप्त हो।
थे भाव उन सब के यही, पर भाग्य-का आश्रय लिये,
बैठे सभी चुप-चाप वे निज-ध्यान सज्जा-मे दिये।
सुर-वर्ग बैठा है इधर, गन्धर्व-गण उस ठौर-है,
वह भीड कैसी किन्नरो की, छा-गई अति-घोर है।
यम, वरुण, इन्द्र, हुताश भी, धर रूप नल-का आ-गये,
इस ओर है राजन्य-गण, उस ओर दर्शक छा-गये।
आगमन अब भी हो रहा है, यदपि मण्डप भर रहा,
जिसको न आना हो यहाँ, ऐसा न कोई नर रहा।
अह, अग्रयायी से तनिक-भी, रुद्ध-पथ यदि हो गया,
तो समझलो पीछे रुको-का, धैर्य सारा खो-गया।
आतुर बने अविलम्ब वे, नव-मार्ग निर्मित कर रहे,
नद-तुल्य-धर गति तीव्र-सी, मण्डप-जलधि को भर-रहे।
भू-मे अमर, नर, यक्ष, किन्नर, गगन-मे जलधर घिरे—
जग-के तृषाहर, भीम-तनया की तृषा उर-मे धरे।
ज्यो सिन्धु कुम्भज चुलुक मे, त्रैलोक्य ज्यो हरि-जठर मे,
त्यो-ही समाई भीड विस्तृत, भीम-भूपति नगर-मे।
कुण्डिनपुरी के भार ही से, पूर्व थे अतिशय - थके,
कर यत्न शत शत फिर थके, इस हेतु नाग न आ सके।
हा, हन्त ! तब पावन पवन, होकर स-देह न आ-सके,
था हृदय-चचल पर, न अपने योग्य वाहन पा - सके।
उनका हरिण, भैमी-नयन, छवि-से, परम-भयभीत-था,
जब सिह-भी छिपते, प्रबल-से, तब हरिण-की क्या-कथा।

मै हूँ पितामह यह समझ, विधि भी न तब थे आ-सके,
दुर्भाग्य-ही समझा, न दर्शन भीमजा के पा-सके।
जो भी अतिथि, नृप-भीम-से, सविशेष स्वागत-पा-गया,
उत्साह-से भरपूर, आशायुक्त वह देखा-गया।
थी देव-भाषा तब सभी की, देव से-ही वेश थे,
यो, नर अमर का भेद तब, बस, जानते अखिलेश थे।
निषधेश सानुज आ-गये, दमकी-स्वयबर-की-स्थली,
थे बन्दि-जन, अनुगत रहे, गाते-हुए विरुदावली।
पूजित हुए वह भीम-से, फिर योग्य आसन मिल-गया,
तारावलो के मध्य था शरदिन्दु मानो-खिल-गया।
सौन्दर्य, नल-का देखकर, स्तम्भित हुए भूपति-सभी,
विधि की सुकृति-भैमी, उसी-के हेतु ही मानी तभी।
तब भीमजा के रूप-का ही, सब जगह सु-प्रसग था,
प्रत्येक नृप, जिसको श्रवण-कर, हो रहा अति दग था।
सहसा विचित्र प्रकार के वादित्र जो फिर से बजे,
आशा-भरे युवराज-गण, सज्जित हुए भी फिर सजे।
बरबस सभी की दृष्टि, सिह-द्वार-पर जा-रुक-गई,
ज्यो, कण्ठ प्राण-तृषित-हरिणी, सरित-तट-पर झुक-गई।
जल-रूप आकर रुक-गई, उस ओर थी वर-पालकी,
उपविष्ठ त्रिभुवन-सुन्दरी जिसमे, सुता-नरपाल-की।
सखि-वर्ग ने अवलम्ब दे, नीचे उतारी भीमजा,
मानो, उतारी अवनि पर यह स्वर्ग-से नव-देवजा।
तब पान दिव्य स्वरूप का, नृप-दृष्टियाँ करने लगी,
अमरत्त्व-फल, निज-तृषित-हृदयों-मे सभी भरने लगीं।
नृप-दृष्टियो के भार-से युग पलक जिसके झुक रहे,
दिवसान्त मे ज्यो, विवश अलि, युग पकजो मे रुक रहे।
वह सुमन था अब तक नही जो, हाथ माली-के पडा,
या, रत्न था अनविद्ध, अब-तक जो न माला-मे जड़ा।

गुण्ठित कनक-परिधान-मे था अरुण आनन चमकता,
मानो कि, ऊषा काल मे, बालार्क नभ-मे दमकता।
बेदी चमकती भाल-पर वे कर्ण भूषण हिल-रहे,
दिव्याभ-रक्त कपोल, जिनको चूमने को मिल-रहे।
वह अमर-शिल्पो की कला को, व्यक्त करती थी खडी,
हँस केशिनी बोली तभी, सखि ! आज शुभ बेला बडी।
यह याचको के सदृश, नृप मण्डल तुम्हे अवलोकता,
'किसको करोगी धन्य' यो प्रत्येक जन है सोचता।
है सब फलोत्सुक, हे शुभे ! यह समुत्सुकता मेट दो,
दिव्यागने ! निज योग्य वर चुनकर अपूर्व स्व-भेट दो।
सकोच अब किस बात का, आओ ! बढो ! आगे चलो !
पाकर सुयोग्य-सुखद-विटप, हे सुलतिके ! फूलो, फलो !
यो-कह, पकडकर मञ्जु-कर, वह भीमजा को ले चली।
देदीप्यमान हुई सभी जिससे, स्वयबर की स्थली,
अपलक अभी तक देखते सब नृपति वैदर्भी - छटा।
हे वन्द्य नृप-गण! यह वचन सुन, ध्यान उन सब का हटा,
अन्योन्य का मुख देखकर लज्जित हुए सहसा सभी।
हे वन्द्य नृप-गण ! कह रहा था उधर वह वन्दो अभी,
है धन्य ! अतिशय आज-की, यह सुखद-शोभामय-घडी।
की आप लोगो ने यहाँ आकर, कृपा हम-पर बडी,
उससे कृतज्ञ महीप है उनका निवेदन है यही।
उसको नरेश क्षमा करे, त्रुटि हो अगर हम से कही,
उनकी-सुता-के रूप मे, वह पारिजात-सुमन-खिला,
जो, आपके यह पुण्य - स्वागत - का, हमे अवसर मिला।
बहु वर-गुणो से मण्डिता, उपमा न है जिसकी कही,
वह बालिका वरणार्थ, सखियो - सहित अब - आई यही।
उसका स्वयबर - हो सफल, ऐसा, सुयत्न सभी करे,
यदि, विघ्न कुछ आये, उसे-तो, सदय-परमेश्वर-हरे।

परिचित करायेगी उसे, प्रति - भूप से, उसकी - सखी,
जो, इस कला - मे विज्ञ, शिक्षा है यही जिसको, कि, दी।
वह, चित्र-युत प्रत्येक नृप - के, वृत्त - को है जानती,
उस-पर कृपा-मय आज है, शुक्लाम्बरा - माँ - भारती।
हसासना - का अश सम्प्रति, केशिनी - को मानिये !
यह है कुलागत-मान्यता, नृप - भीम - की सच जानिये !
वह, यह बता, ज्यो-ही रुका, त्यो ही सु-मञ्जुल-वेशिनी--
भीमात्मजा-का कर पकड कर, बढ-चली, सखि-केशिनी।

"देखो सखी ! यह यक्ष-गण, इस ओर शोभा-पा-रहा,
विद्याधरो - का सघ वह, देखो ! उधर बैठा महा।
गधर्व - गण यह ! सेविका जिसकी सकल गायन - कला,
विरुदावली इनकी मनुज, क्या - लोक - मे गाये, भला।
ये निकट सब देवेन्द्र के, सब काल रहते है वहाँ,
दुख नाम को भी है नही, सुख - ऋद्धि-सिद्धि रहे जहाँ।
उनमे न कुछ रुचि भीमजा - की, देख वह आगे - चली,
खिलती भला, रवि-के बिना, कब कमल-की कोमल-कली।
सज्जित - हुआ आसीन है, युवराज - गण इस ठौर से,
परिचित कराती हूँ तुम्हे, हे आलि ! मै, इस छोर - से।
देखो सखी ! यह सु-तन मन, जिसमे मुकुर-सम दमकता,
सुन्दर सतेज, विशाल इसका भाल, रवि - सम चमकता।
यह नाथ पुष्कर द्वीप का, यम - सदृश है सग्राम - मे,
साकार-धर्म, रसिक तथा, है काम - सा ही काम मे।
वह द्वीप समझो स्वर्ग, ब्रह्मा स्वय रहते है जहाँ,
दु खादि कुछ भी मनुज को सहना नही पड़ता वहाँ।
ऐश्वर्य पूर्ण तुम्हे मिले, इसको वरो, हे सुन्दरी !
ब्रह्मा स्वय सु - मुदित रहेगे, देखकर निज चातुरी।

उस द्वीप - पर विख्यात, इस भूगोल का न्यग्रोध है,
जिससे कि, सारे द्वीप का स्वयमेव आतप - रोध है।
हिम - तुल्य वह छाया सखी, कलकेलि तुम करना जहाँ,
हे सुमुखि ! अपना सुरत श्रम, तुम सहज-ही हरना वहाँ।
इसके सुयश के सामने, हसावली - की श्वेतता,
रम्भोरु ! है अब हीन - सी उससे स्वय पाकर, धता।
पर, केशिनी तब भीमजा - की, वह मुखाकृति हेर के,
लेकर उसे आगे बढी, उस नृपति से मुँह - फेर के।
उनके गये पर, रह गया यो, वदन पुष्कर - नाथ का,
ज्यो, पद्मिनी पति, निहत सा, रहता गगन - मे प्रात का।
देखो चकोराक्षी ! इधर ये शाक द्वीप - नरेश है,
वे शाक - नामक विटप इनके राज्य - मे सविशेष है।
आह्लादकारी हिम अनिल, उनसे निकल बहता वहाँ,
वह उदय गिरि इनके सुयश को स्तम्भ बन कहता वहाँ।
उदयाद्रि पर करना भ्रमण बनकर शुभे ! विस्मय नया,
सोचे मनुज, रवि स्थान पर, यह विधु कहाँ-से आ-गया।
तुमको जगायेगी खडी उस ठौर ऊषा - सुन्दरी,
गैरिक छटा से पूर्ण है, उदयाद्रि की विस्तृत - दरी।
करना विहार वही सखी, होगा सफल जीवन तभी,
मिलता नरी-को इन्दुमुखि ! ऐसा सु-योग कभी, कभी।
यह नत - वदन निज शीलता को प्रगट करता आप है,
रण-चातुरी को विदित करता, यह करस्थित चाप है।
रहते वहाँ - पर विष्णु है, अचला वहाँ है 'चञ्चला',
रिपु एक का भी तो नही, अब तक जहाँ कुछ वश चला।
भ्रू - क्षेप पाकर भीमजा - का, केशिनी आगे चली,
चलती हुई भीमात्मजा हसी - समान लगी भली।
दर्शन करो कमलाक्षि ! तुम, इस वीर क्रौच - महीप के,
दधि - मण्डकोदधि बह रहा, चहुँ ओर उस वर द्वीप के।

उस ठौर का रहना भला, होगा नही रुचिकर किसे,
है मन्त्रणा मेरी अये-सखि ! भीमजे ! वर लो इसे !
गिरिनन्दिनी - नन्दन - शरो - से, अणित-देह हुआ पडा,
वह क्रौंच - दारण - अचल, तो भी, है वहाँ उत्सुक खडा।
सखि ! हस कलरव व्याज - से, मानो, बुलाता वह तुम्हे,
कल-केलि के हित स्थान क्या, वह भी न भाता है तुम्हे।
कर अर्चना हर की वहाँ हे आलि ! केवल दर्भ - से,
है मुक्त हो जाते सदा को मनुज, जननी - गर्भ - से।
दधि मण्डकोदधि मे सखी ! करना विहार कभी, कभी,
होना विशालाक्षी, सफल केवल निहार कभी, कभी।
उस ठौर से जो हस नित जाते विदेश नये, नये,
वह सुयश इनका हस बन दिग्व्याप्त होता है अये !
क्रौञ्चेश - मे पर, अरुचि मुख-से, भीमजा की मान के,
वह, बढ-चली उस भूप - को, अप्राप्य उसका जान के।
हे खञ्जनाक्षी ! देख लो, कुश द्वीप के ये नाथ है,
असि - समर के द्योतक अहा, आजानु इनके हाथ है।
द्युतिमान इनका भाल, घन-बन, तेज-जल, बरसा-रहा,
इस ठौर आगत, नृपति - गण इनसे सभी डर - सा रहा।
घृत-सिन्धु बहता है वहाँ, कुश द्वीप - तट - पर सुन्दरी !
आकृष्ट करती दृष्टि को, वे मन्दराचल की दरी।
जो है अनन्त न छोर उनके दृष्टि मे आते कभी,
नर्तन मयूरो का वहाँ, कोकिल सु - कुल गाते कभी।
हे रमणशीले ! प्राप्त कर इनको, रमण करना वहाँ,
निश्चय समझलो, प्राप्त इनसे, हो तुम्हे आदर महा।
'आगे चलो' सुन भीमजा से, केशिनी आगे - चली,
ग्रीष्मार्त्त-कुश-सम, हाय ! तब कुशनाथ की आशा जली।
हे सुमुखि ! शाल्मल द्वीप के ये नृपति शोभा पा - रहे,
नभचर सभी चारण बने इनके सुयश को गा - रहे।

विधि से अहा, कैसी इन्हे यह दिव्य सुन्दरता मिली,
खल - वृन्द के दमनार्थ भी, दुर्दम्य बर्बरता मिली।
मृत व्यक्तियो के हेतु जीवन - दान जो करती सदा,
सजीवनी बूटी रुजा - व्रण - जन्य जो हरती सदा।
उसका जनक वह द्रोण-गिरि, उन्नत वही पर है खडा,
हे सुस्तनी ! वर कर इन्हे होगा तुम्हारा हित बड़ा।
ज्यो बच नदी पथ के अचल-से, सिन्धु मे जाती - भली,
त्यो, भीमजा उस नृपति से बचकर, खिसक आगे-चली।
बोली - तनिक चल केशिनी, हे इन्दुमुखि ! देखो इन्हे,
ये नाथ प्लक्ष - द्वीप के रवि - सदृश ही लेखो इन्हे।
वे प्लक्ष - शाखा - झूलती, दोला - सदृश ही गगन - मे,
उन पर सुरम्ये ! झूलना, सुख-शत-गुणित हो रमण - मे।
इनकी प्रजा विधु - भक्त है जो इन्दु के दर्शन बिना—
भोजन न करती कष्ट उसका यह प्रथम जाता गिना।
हे सखि ! तुम्हारा विधु-बिनिन्दित-वदन यह होगा जहॉ,
समझो, रहेगा भूमि - पर सब काल चन्द्रोदय वहॉ।
वे क्लेशहर तुमको समझ, पूजा करेगे भाव से,
कितना न जाने, ये तुम्हे सम्मान देगे चाव से।
बहती विपाशी सरित, प्लक्ष - द्वीप - में जल से भरी,
देखो वहॉ पद्मावली, पंकज - दृगो से सुन्दरी !
इनके सुयश-से सरित - जल, जब श्वेत - दुग्ध - सदृश लगे,
तब, क्षीर - नीर - विवेकधारी, हस - भी जाते ठगे।
पर, भीमजा को देखकर, जो अनमनी - सी लग - रही,
प्रत्यक्ष, अश्रद्धा कि तब, जिसके वदन - पर जग - रही।
बढ केशिनी आगे चली, वह मञ्जु - कर, कर-मे गहे,
उस काल प्लक्षाधिप, विधुन्तुद ग्रस्त-विधु के सम रहे।
कुछ ठिठक कर फिर केशिनी बोली—कमलनयने ! सुनो,
देखो, तुम्हारे योग्य, जम्बूनाथ ये, इनको चुनो !

है आज सर्वश्रेष्ठ जम्बू - द्वीप, जग - मे हे सखी !
तुमसे अलकृत यह हुआ, सविशेष जब से हे सखी !
शोभा वहाँ - की शत-गुणी, जम्बू - वनो से हो - रही,
जाम्बू नदी उस ठौर, जनता के कलुष सब धो - रही ।
उस प्रान्त के हित देवियाँ - भी, सर्वदा उत्सुक रहे,
दो हमे जम्बू - फल, सहठ निज - प्रियतमो से वे कहे ।
जो, दृष्टि बरबस खीचते, है और ऐसे पुर कहाँ,
वह विश्ववन्द्य अवन्तिका शोभा बढाती है वहाँ ।
शिप्रा-नदी का गान, कल - कल - श्रोत्र - सुखकारी - बडा,
वह हेमगिरि ही स्वयं बनकर छत्र सोने का खड़ा ।
तारुण्य का फल प्राप्त होगा, कर विहार तुम्हे वहाँ,
उपहार ये निज - सुमन का, देगे स्वय तुमको जहाँ ।
अनुराग - हीना देखकर, पर, भीमजा की दृष्टि - को,
वह केशिनी आगे बढी, ले साथ स्वर्ग - सु - यष्टि को ।
कहने लगी, स्मितहासिनी, सखि ! गौड नृप को देख लो,
समझो, उचित तो हे सरोजमुखी ! इन्हे निज भेट दो ।
पाकर तुम्हे सचमुच अहा, ये नव - पयोद सदृश लगे,
जब दामिनी सी द्युति - तुम्हारी, अक इनके जगमगे ।
इनसे समर कर रिपु न इनका, एक भी जीवित बचा,
इनको न अपने सदृश कोई वीर भूतल पर जँचा ।
सुन्दर, गुणी ये सब प्रजा इनको जनक - सम मानती,
निज प्रान्त स्वर्ग समझ, अवनि का शक्र इनको जानती ।
इनसे अगर तुम चाहती हो, प्रेम - मय क्रीडा, सखी !
कहने न देती और यदि वह विघ्न बन व्रीडा - सखी ।
सकेत ही से तो कहो, मै समझ जाऊँगी सभी,
माला, तुम्हारी वक्ष - से इनके, जुड़ाऊँगी अभी ।
मधु - दृष्टि से भीमात्मजा-की, एक दिव्य अपाङ्ग ले,
हँस केशिनी आगे चली, हेमाङ्गना को साथ लै ।

कहने लगी-फिर हे सुमुखि ! उपविष्ट ये मथुरेश है,
नवयुवक है किस भाँति, काले, कृष्ण-घन से केश है।
पूर्णेन्दु-सा मुख चमकता, कितनी विशाल भुजा अये !
है लग रहे ज्यो शक्र तजकर स्वर्ग, भू-पर आ-गये।
शोभा वहाँ की स्वय कालिन्दी बढाती आप है,
वह तरणिजा रोके स्वय रहती तरणि का ताप है।
उस ठौर सुन्दरि ! श्याम-बन की है बडी-मोहक छटा,
जिसको विलोक मनुज, न फिर निज दृष्टि को सकता हटा।
वरकर इन्हे उस विपिन मे कल केलि करना घूमना,
हाँ, नाचते केकी - कुलों को देख तुम भी झूमना।
पावस - समय का दृश्य ऐसा, और पाओगी कहाँ,
हे कम्बुकण्ठि ! मिला स्व-रव, पिक-सग तुम गाना वहाँ।
सन्तोष के पर चिन्ह भैमी - वदन पर पाये नही,
सखि केशिनी समझी, कि, ये नृप भी इसे भाये नही।
वे बढी, तब मथुरेश का मुख-रग ऐसा हो गया,
मानो कि, साधक का कही पर सिद्धि-धन ही खो गया।
प्रति कमल पर मानों पवन जल-की लहर को ला-रही,
ले भीमजा को केशिनी, प्रति भूप पर त्यों, जा रही।
पीछे - रहे नृप के मनो - मे, स्वाभिमान बड़ा जगा,
अपनी उपेक्षा उस समय, अपमान घोर उन्हे लगा।
अब बैठना भी था कठिन, वह प्रथा ही रोके-रही,
सम-लज्जितो-को देख, मन को सान्त्वना थी पा रही।
"सखि ! देखलो, बैठे हुए, इन सौम्य - काशीनाथ को,
यो केशिनी बोली - उठा - उस ओर अपने हाथ को।
इस सकल भू - पर पुण्यदा, काशीपुरी विख्यात है,
ये है महा विद्वान-देखो, भुवन - मोहक गात है।
शोभा बढा वाराणसी की स्वयं वरुणा बह-रही,
वह स्वयं कल-कल-व्याज से इनके सुयश को कह रही।

वाराणसी, भव - बन्धनो - से छूटने की युक्ति है,
उस ठौर मरकर सहज ही होती जनो की मुक्ति है।
नव-अङ्गनाये मुग्ध-हो, इनको स-मुद चाहे सभी,
वर लो, इन्हे ऐसा न अवसर प्राप्त होगा फिर कभी।
सखि ! स्वय शकर ने बसायी वह पुरी इस लोक-मे,
उस ठौर कोई जन न तुमको, लिप्त पाये शोक-मे।
उस जगह को कृतकृत्य है सखि ! स्वय जगदम्बा-किये,
कल-केलि के हित सुखद हो वह भू तुम्हारे भी लिये।
मेरा न है यह प्राप्य ऐसा सोच मन-मे भीमजा—
चलकर वहाँ ठहरी जहाँ बैठा अयोध्याधिप सजा।
था अप्सराओ के सदृश सखि-वर्ग सुमुदित साथ-मे,
भैमी-कमलकर को लिये थी केशिनी निज हाथ-मे।
देखो सखी ! ऋतुपर्ण को कैसा ! सुडौल शरीर है,
दिनकर-समान सु-कान्ति, सागर के सदृश गभीर है।
वह भव्य - सरयू - तट वहाँ, हो मुग्ध हस जहाँ रहे,
जो, निज प्रियाओ का वियोग न एक पल को भी सहे।
उस हस-शिक्षा से तुम्हे ये साथ रक्खे सुन्दरी !
वसुधासुधे ! तुमको चखे ये कर अनेको - चातुरी ।
उस दिव्य - सरयू - तीर-पर तुम हस क्रीड़ा देखना,
सुर सरित-तट पर शची के सम, तब स्वय को लेखना।
सखि ! याद इनके शत्रुओ की देखकर आती यही,
उनकी प्रियाये प्राप्त-कर वैधव्य - को जो रो-रही।
साकेत सी शोभा न है साकेत को तजकर कही,
हे हसिनी ! आनन्द लेना तुम इन्हे भजकर वही।
पर, भिन्न रुचि है लोक-मे, रुचता न रोचक भी कही,
बैठे, जहाँ पाण्ड्येश, अब वे सब-रुकी, आकर वही।
मण्डप-गगन में नृप-सभा, उडु-गण-घटा-सी घिर-रही,
वह इन्दु-वदनी भीमजा, पूर्णेन्दु बनकर फिर-रही।

पाण्ड्येश का गुण-गान अब वह केशिनी करने लगी,
हे सुमुखि ! देखो भव्य-मुख, द्युति-दिव्य-कैसी जगमगी।
इनके सभी रिपु मानकर भय, स्थिर न रह सकते कही,
वे भीत छिपते विपिन मे, ये समर मे थकते नही।
इनकी सकल-रिपु-सम्पदा, इनके यहाँ ठहरी हुई,
निर्भीकता इनकी परम, उसकी सजग प्रहरी - हुई।
वह कौन ! थल रण-हित न इनके भट जहाँ-पर जा सके,
किस ठौर, ये होकर जयी, अपनी ध्वजा न उडा-सके।
कर मन्द-सी वाणी मधुर हँस केशिनी कहने लगी,
आमोद आली का विवश-हो-नत-दृगी सहने लगी।
तुम चाहती निषधेश को मै जानती हूँ हे सखी !
वर अन्य को सकती न तुम मै मानती हूँ हे सखी !
धन-रूप-बल विद्या विभव - मे, है उन्ही के तुल्य ये,
निषधेश इनके मूल्य सखि ! है और उनका - मूल्य ये।
पाना उन्हे ही इष्ट, इनको तदपि तुम छोड़ो नही,
नल की प्रिये ! नल-सदृश धन-से, भूल मुँह मोडो नही।
शत-शत जनो को पार जब करती अकेले ही तरी,
एकाकिनी श्री जगत-से, सु-विहार जब करती अरी !
कल्याण फिर जग-सुन्दरी, जन एक ही का, क्यो करे,
उपविष्ट श्रेष्ठ - वरावली-मे, एक-ही वर-क्यो, वरे।
तब, भाव सहसा ही घृणा के, भीमजा-मुख-पर जगे,
साध्वी-सती-को वृत्त भी कब ! पापमय अच्छा लगे।
करके कटाक्ष सरोष वैदर्भी, तभी आगे-बढी,
अरुणाभ-मञ्जु-कपोल ज्यो, उदयाद्रि-पर ऊषा चढ़ी।
ये है कलिङ्गाधिप सुनो, इनके गुणो को सुन्दरी !
देखो, विशालाक्षी ! सुदृग-आकर्ण ये इनके अरी !
उस प्रान्त की शोभा महेन्द्राचल, बढाता आप है,
उत्तुङ्ग-शृङ्गो पर जयध्वज वह उडाता आप है।

जितने द्विरद इनके यहाँ, इतने न पायेंगे कही,
इनके निकट श्री भी स्वय होकर विमुग्धा रह रही।
सुन गुण अधूरे ही वहाँ से भीमजा आगे चली,
अवमानना अपनी कलिङ्ग नरेश को अति ही खली।
बैठे जहाँ काञ्चीपुराधिप जा रुकी दोनो वहाँ,
यह भी न देखा साथ की वे सहचरी अपनी कहाँ!
सकेत दृग-का कर सखी ने भीमजा से यो कहा,
देखो, सुमुखि! काञ्चीपुरी-का सु-नृप यह बैठा अहा।
कोदण्ड कुण्डल-सा सदा-सग्राम मे इनका-रहे,
रण-मे विशिख इनका न गज भी सामने होकर सहे।
इन पर कृपामय सब अमर, अगि यज्ञ इस नृप ने किये,
बहु-दान देकर, दीन-याचक-भी कुबेर बना - दिये।
संमानितो को मान - दे, दु-र्दण्ड - देते दुष्ट - को,
उसका न फिर रक्षक कही, यह नृपति जिससे रुष्ट-हो।
गाती-चली प्रत्येक नृप-का, विरुद यो - ही केशिनी,
ठहरी न फिर सम्मुख किसी के भीमजा - वरवेशिनी।
मिथिलेश पीछे-रह-गये, छोडा इधर मगधेश - को,
पीना पडा अपमान, मानी - कामरूप-नरेश को।
भूपावली को छोड वह, आगे - बढी जब - लालिमा,
पीछे रहे नृप-मुखो-पर फिर-सी गई तब कालिमा।
ले साँस लम्बी विवश वे, निस्तेज-से सब रह-गये,
सविशेष लज्जा-सिन्धु-मे, तब उत्कलाधिप बह गये।
थे और भी जो नृपति छोडे तब वहाँ सज्जित हुए,
'हम व्यर्थ ही आये' सभी वे, सोच-यो - लज्जित हुए।

(२)

सज्जित हुए वर-मञ्च - पर, निषधेश बैठे-थे जहाँ,
ले साथ दमयन्ती - सखी को, केशिनी पहुँची वहाँ।

ज्यों, देखकर विकसित कमल, अलि फिर न आगे जा-सके,
त्यों-देखकर नल-मुख-कमल, पद स्वय भैमी के रूके।
अपलक दृगो-से देखती, चित्राङ्किता-सी-रह-गई,
अनजान-मे, मानों, स्वय, वह भाव अपना कह-गई।
कहने लगी-फिर केशिनी सखि! देखलो निषधेश-को,
इनका सु-वेश अतिक्रमरण, करता सुरो-के वेश-को।
देदीप्यमान विशाल इनका भाल कैसा, चमकता,
रजनीश पूरे मास का मानो, गगन मे दमकता।
कितना गठित है देह भुज गज-शुण्ड-सम मॉसल घने,
हॉ, पकडकर कोदण्ड ये, जब, जब, समर मे है तने।
तब, तब, विनिर्मित लौह से, रिपु-वृन्द ने माना इन्हे,
अवलोक इनके क्रोध को यम दूसरा जाना इन्हे।
विश्वेश ने गति तीन दे, रिपु विश्व मे इनके रचे,
भागे, मरे, अथवा शरण-मे, पहुँचकर इनकी बचे।
ये प्रेम है साक्षात् इनको, शान्ति भी अनुपम मिली,
पाकर गुणी को कब, न इनकी हर्ष से ऑखे खिली।
सखि! देव-दुर्लभ ही हृदय, इनको मिला भगवान से,
तन-मन - विभूषित हो रहा इनका असीमित ज्ञान-से।
जब, निज विशाल सुराष्ट्र इनके जनक ने इनको दिया,
गुण-सघ भी तब स्वय ही, उनसे इन्होने ले लिया।
सखि! वक्ष इनका देखलो, हिमवान-सा विस्तृत तना,
सु-विरुद्ध तत्त्वो से कि, जिसके बीच, वह मानस-बना—
जो, कठिन से भी कठिन, कोमलतम कभी है दीखता,
पर-गुणी को भी पूजता, निज-दुष्ट-को देता धता।
देवेन्द्र भी आसन स्वय, आधा इन्हे देते अरी!
इनके लिए देवाङ्गना भी चाहती होना नरी।
है-देख-कर इनको परस्पर तरुणियॉ कहती यही,
शिव ने जिसे फूँका, अरी, यह जी-उठा है स्मर वही।

या, मादनी-मदमत्त-हो, मदनारि थे भ्रम-मे पडे,
'जीवित-रहा स्मर' वे-हठीले, फुँक-गया यो-ही अडे।
निज-वक्ष जो इस वक्ष-से, अपना जुडायेगी अरी!
सुर - दुर्लभा वह कौन, होगी, भाग्य - शीला - सुन्दरी!
अह, कौन! इनके पद-कमल, पूजा करेगी चाव-से,
वह धन्य, होगी, ये जिसे, गृहिणी - कहेगे भाव-से।
अह कौन! इस घन-अङ्क को शोभित-करेगा दामिनी,
भू-भानु का भव-भोग्य, सचमुच ही बने, भू-भामिनी।
दिग्व्याप्त है इनका सुयश जाओ, जहाँ पाओ, वही,
इनके गुणो-का गणन कर सकता गणिक-पुङ्गव नही।
शत, शत, किये है यज्ञ, इनके पूर्वजों ने लोक-मे,
योगी-समान, सदा रहे सम सौख्य मे या शोक-मे।
पुण्यी-मनुज ही स्वर्ग-को, है देख सकते यह कथा,
हे चन्द्रवदनी! कर दिखायी है इन्होने अन्यथा।
वह प्रान्त इनका आज, दिव-का भी, अतिक्रम-कर गया,
अब देख ले प्रत्यक्ष, पापी-मनुज-भी वह दिव नया।
गुण-गान मे इनके अरी! देवेश - भी थकते नही,
वह कार्य इनको सौपते, जो स्वयं कर-सकते नही।
यम-वरूण-इन्द्र, अनल, सखी! इनके कृतज्ञ हुए घने,
ये पाक - शास्त्र - विशारदो-मे, प्रथम ही जाते गिने।
सखि! अश्व-विद्या मे, न इनके तुल्य है कोई कही,
हाँ, दान इनके सदृश कर सकते कुबेर स्वय नही।
गुण केशिनी गाती, सु-हर्षित-भीमजा - सुनती गई,
उसके कपोलो - पर प्रगट, देखी-गई ऊषा- नई।
सकोच-के गुरु - भार से थे पलक नयनो - पर झुके,
पद-चाहते चलना, न कुछ भी चल सके, सहसा-रुके।
जयमाल हाथों-मे उठी, पर, उठ वही रुक - रह गई,
वह कनक-वल्ली कुछ बढी, सहसा लचक, झुक-रह गई।

कर्त्तव्य - मूढ - समान उसको देख बोली - केशिनी,
पूरा करो, अब कार्य, लज्जा - छोडकर वर-वेशिनी।
अवलम्ब पाने के लिए भी चाहती अवलम्ब हो,
अह, भूल जाती-हो कि, तुम स्वयमेव जग-की स्तम्भ हो।
यदि, चाहती अवलम्ब-ही, तो लो तुम्हें मैने दिया,
यो-कह, सु-कर, जयमाल-वाला, हाथ अपने-मे लिया।
कहने लगी-फिर केशिनी, कुछ मन्द-सी चलती हुई,
अनुपदा दमयन्ती, मराली-को, चली-छलती हुई।
"क्या-सोच है सखि! छल न कुछ होगा तुम्हारे साथ में,
निर्भीक हो निज पाणि-को सौपो, निषधपति, हाथ-में।
भरपूर नृप-मण्डल, सुमुखि! तुम देखलो, बैठा-यहाँ,
इनके सदृश कोई सखी! पर लग-रहा इनमे कहाँ!
घूमी नरेन्द्रो - पर तभी, युग-हरिणियो-सी दृष्टि-थी,
क्षण एक-ही हो रह गई तब वह सुधामय वृष्टि-थी।
ऐ, ऐ, सखी! यह क्या-अधूरा वाक्य-ही मुँह से कढा,
उसका सभी वह हर्ष सहसा, रूप भय-का धर-बढा।
बैठे वहाँ-पर एक से ही, पाँच नल निषधेश थे,
थी एक-सी आकृति सभी की, एक-से ही वेश थे।
थे पलक सबके साथ लगते, अङ्ग हिलते साथ थे,
कोदण्ड-भी तब एक-से ही ले-रहे सब हाथ थे।
मुख भी सभी के एक-ही से, भाव-करते व्यक्त थे,
यह देख भीता-केशिनी के पद-हुए निश्शक्त थे।
हे हे सखी! ये चार आगे, बिछ-रहे जो मञ्च है,
उन पर सभी निषधेश बैठे, इस तरह नल पञ्च-है।
है कौन से कल्पित - निषधपति, और प्राकृत-कौन है,
सखि! इस विषय-मे देव भी, कुछ कह न सकते मौन है।
देखो, बहन, इनमे न अब, तिल-मात्र अन्तर पा-रहा,
सहसा तभी "नल मै, अरे, नल मै" सभी ने यह-कहा।

सुनकर डरी - भैमी, कमल-मुख-अरुणिमा पीली हुई,
उसकी मृगी-सी आँख, अपने आप-ही गीली-हुई ।
जयमाल वाला पाणि था कुछ उठ-रहा माला-लिये,
अपलक-हुई क्षण-भर, वरद-देवीत्त्व-को धारण-किये—
पाँचो नलों को देखती, प्रतिमा बनी - सी रह गई,
मन कह-रहा हे देव ! यह क्या-आ-गई विपदा-नई ।
कहने लगी - फिर केशिनी, ये आ-गये आर्य्ये ! छली,
अप्राप्य तुमको समझकर ही, चाल इन सब ने चली ।
आलेख्यगत सी भीमजा को देख वह कहती रही,
सखि ! प्रण-परीक्षण-काल, आ-पहुँचा तुम्हारा क्या यही ।
अब हम विपन्ना क्या-करे, मति कुछ न देती काम है,
कहते सभी पर, "धीर होना विपद-मे अभिराम है ।"
होते न देखी, देव-गण ने, पूर्ण जब निज - कामना,
फिर, दूत-द्वारा, सुन-चुके होगे, परम-अवमानना ।
तो, कर रहे यह विघ्न वे ही, हो गये अब क्रुद्ध है,
दुष्कृत्य ऐसे, हाय ! क्या - देवत्त्व के न विरुद्ध है ।
मुझको हटाये देव मेरे मार्ग-मे यदि शक्ति हो,
वे देखले आकर सभी, भीमात्मजा - पतिभक्ति को ।
यह घोषणा आवेश - मे जो प्रथम ही तुम कर-चुकी,
तजकर दिगीशो को अरी ! निषधेश को ही वर-चुकी ।
आश्चर्य क्या तब आज सुर-गण विघ्न यदि कुछ आ-करे,
वे, देखने साहस तुम्हारा, रूप नल-का आ-धरे ।
यह देखकर मण्डप-तले, घटना महा - विस्मय - मयी,
भय-पूर्ण रेखा निज-जनो के मुखो-पर दौडी नई ।
पर, विपदग्रस्ता भीमजा-को देख वे प्रमुदित हुये,
जो नृपति कुछ क्षण-पूर्व उसने, देख अस्वीकृत किये ।
थी सनसनी-सी फैल, सारी सभा मे सहसा गई,
नृप-भीम भी व्याकुल-हुए, यह विपद देख नई-नई ।

सब रुक - गये वादित्र, चिन्ता और व्याकुलता बढी,
दर्शक-मुखो पर भी स्वय, विस्मय-भरी रेखा-कढी ।
अवलोकने पाँचो नलो को सब उठे निज स्थान से,
कुछ मुख बढे थे, बात कहने-के लिये पर-कान से ।
बढकर - गये नृप-भीम, दमयन्ती - सुता खिन्ना जहाँ,
नल पाँच थे बैठे-हुए, उन पाँच मञ्चो-पर वहाँ ।
अति-चकित-सा अवलोक, नृप-को केशिनी कहने लगी,
नृप ध्यान-से सुनते रहे पर, दृष्टि थी मानो ठगी ।
हे देव ! हम आयी यहाँ, सहचरी-को आगे लिये,
पीछे-रहे भूपाल, अस्वीकृत - सभी इसने किये ।
वरणार्थ जब निषधेश-को, जयमाल निज कर-मे गही,
तब देखकर नल पाँच को, हम विस्मिता-भीता-रही ।
यम, वरुण है इनमे तथा बैठे अनल नाकेश है,
कुछ भी न जान पडा, कि इनमें कौन से, निषधेश है ।
है चार वे ही देव, निश्चय, समझ यह हमने लिया,
यो, स्वागमन-का पूर्व-ही सन्देश उन सब ने दिया ।
सुनकर वचन, नृप- वदन से "हूँ" त्वरित ही निकला तभी,
अवशेष-भी वृत्तान्त, तब उस विज्ञ ने समझा सभी ।
है देव यदि ये तो अरे ! क्या-सोच है चिन्ता तजो,
इनकी करो स्तुति प्रेम-से, श्रद्धा-सहित इनको भजो ।
सुर-सौम्य तो सम्मान के ही सर्वदा भूखे रहे,
करते उन्हे ये सजग, जो इनके-लिए रूखे रहे ।
हाँ, भूल होना आदि-से ही मानवों का धर्म है,
इनके लिए तुमसे कही कुछ, हो गया दुष्कर्म है ।
स-प्रेम तुम इनसे करो, तनये ! क्षमा-याचन अभी,
ये तुष्ट होगे तो, विगत होगे सकल सन्ताप भी ।
मै भी करूँगा यत्न, जिससे देव शीघ्र-प्रसन्न हो,
अपनी स्वयबर - शेषता, सानन्द जो सम्पन्न हो ।

यो, कह वचन अपना वहाँ, रहना न समुचित जानके,
शकित-हुए से नृप चले, कुछ सोच मन-मे मानके।
नृप-का समर्थन ही तभी, था केशिनी ने भी किया,
प्रस्तुत उसे देवार्चना के हेतु सत्त्वर-कर लिया ।
लाये गये फिर थाल मे नैवेद्य, धूपादिक वहाँ,
रहती वहाँ कब लाज, आती विपद चाण्डाली जहाँ।
कर-जोड दृग-युग मीचकर, करने लगी स्तुति भीमजा,
हे देव-गण ! मेरे लिए, देवत्त्व क्या-तुमने तजा।
सत्कार्य मे सहयोग देना, निर्जरों का धर्म है,
फिर हो रहा तुमसे न क्या-यह सुर-विरोधी कर्म है।
सब मनुज तुमको पूजते, इस विश्व के तुम नाथ हो,
हो दीन के पालक तुम्ही, निज आश्रितो के हाथ हो।
अवलम्ब पाकर आपका ही, पुण्य जग-मे रह रहा,
तुमने, अहा बहु - बार क्या धर्मार्थ क्लेश नही सहा।
सब पुण्य-जन तुमने उबारे, दुष्ट-दल-मारा प्रभो !
है दनुजता निश्शेष, तुमसे हार कर ही हे विभो !
जब एक को मै वर चूकी, अब अन्य को कैसे वरूँ !
तुम ही विचारो, हृदय मे, दुष्कृत्य यह कैसे करूँ !
मै जानती सम्मुख तुम्हारे वश न कुछ भी चल सके,
पर, भीम-पुत्री का वचन, तिल-मात्र भो क्या-टल सके।
सच है कि देव-कृपा बिना, मै प्राप्य, पा सकती नही,
पर, समझलो भीमात्मजा असफल न जा सकती कहीं।
मर-जायगी भैमी, कलुष फिर क्या-न तुम सब को लगे,
हे देव ! विश्रुत विश्व-मे, तुम-हो सभी करुणा-पगे।
होकर, निराश्रित धर्म, अब-संसार से उठ-जायगा,
जब देव-गण ही विघ्न उसमे, इस तरह बन-जायगा।
मै सर्वदा सद्भाव - से प्रभु, पूजती तुमको-रही,
हे देव ! फिर क्या-विघ्न करना, था तुम्हे समुचित कही।

निज भक्त-के तुमने सदा-से ही हरे सब कष्ट है,
सुनकर हँसेगा, जग-कि, निर्जर-भी स्व-पथ से भ्रष्ट है।
हे देव ! धरणी टिक-रही है, आपके सहकार-से,
है भाव सब-के मातृ-सम होने, उचित पर-दार-से।
जग याद-करता है तुम्हे जब विघ्न है पडते-कही,
अब याद-मै किसको करूँ, जब विघ्न-हो तुम स्वय-ही।
तुम देव-के भी देव-हो, मै-हूँ तथा अबला हरे !
हे देव ! तुमको पूज, पापी अगम-भव-सागर-तरे।
मेरे-लिए फिर देर इतनी, हे प्रभो ! क्यो-कर रहे,
क्या-है उचित जो आज, छल-का रूप यह तुम धर-रहे।
हे हे दयासिन्धो ! तुम्हारी दया, क्या - सोई कहो,
शरणागता-पर द्रवित होते-हो प्रभो ! अब क्यो-नही।
यो कर विनय, निज-नेत्र-उद्घाटित किये उसने तभी,
तो, दृष्टि-मे आया कि बैठे पूर्ववत नल-है सभी।
व्याकुल-हुई वह और भी, अब आ-गया रोना उसे,
रक्षक-स्वय भक्षक-बने, फिर रक्ष्य-की चिन्ता किसे !
अब विवश हो करने लगी, भैमी विनय भगवान-से,
हिलते नही हो नाथ ! तुम क्यो-आज फिर निज स्थान-से।
यह विपदग्रस्ता सेविका, तुमको पुकार-रही खडी,
मेरे-लिए समुचित न है, प्रभु ! खीचनी इतनी कडी।
फँसकर विपद-मे आपको, जब याद-था गज ने किया,
होकर द्रवित तब आपने, सब कष्ट उसका हर-लिया।
अब-तक उपेक्षा, दीन-वाणी की नही तुम कर-सके,
है कौन ! ऐसा भक्त, जिसके दुख नही तुम हर-सके।
जब, जब, धरा-तरणी फँसी-है पाप-रूपी पक - में,
जब, जब, हुआ है डूबने को, नाथ ! धर्म कलक-मे।
तब, तब, उबारा है उसे, तुम चैन-से बैठे कहाँ,
रक्षार्थ फिर मेरी प्रभो ! कह दो, न क्यो आते यहाँ।

हे दीन-रक्षक ! छोडकर तुमको, पुकारूँ मै किसे !
ये, व्यर्थ ही अपमान अपना, सुर समझ बैठे जिसे ।
मैने किया वह धर्म-पालन, और था समुचित यही,
सकल्प तोडेगी न निज, सहमी-हुई भैमी कही ।
हे नाथ ! दो सन्मति इन्हे, जो मार्ग मेरे से हटे,
ये-देव होकर धर्म-पथ-मे, जो न विघ्न-बने-डटे ।
मेरे न सच्चे-भाव क्या-तुम जानते-हो हे प्रभो !
या-भीति तुम-भी देव-गण-से, मानते-हो हे प्रभो !
आये नही अब तक विभो ! क्या-है दयामयता यही,
कैसे कहूँ मै, नाम प्रभु-का, है दयासागर सही ।
सकट-विमोचन ! शीघ्र-ही आओ, विराजे-हो कहाँ,
है कौन ! अथवा ठौर वह प्रभु ! तुम नही रहते जहाँ ।
यदि, आ न सकते, तो वृथा-ही जगत-पालक नाम है,
हे ईश ! सत्वर रोक दो, जो हो-रहा दुष्काम है।
थी जिस-समय यो-कर रही, भैमी विनय भगवान-से,
सुर-सघ की स्तुति-मग्न थे, भू-सुर उधर अति-ध्यान से,
पर, दृश्य फिर-भी था वही, अब भीमजा रोने लगी,
उसके दृगो की कालिमा, सहसा अरुण होने लगी ।
आते सदा अवतार बन तुम नाथ ! दीनों-के लिए,
विश्रुत तुम्ही-हो एक आश्रय, नाथ ! हीनो के लिए ।
फिर कौनसे ! अपराध ऐसे, घोरतर मैने किए,
करते न करुणा आज जो, करुणानिधे ! मेरे लिए ।
सचमुच त्रिलोकी-के पिता-का, कार्य क्या-यह ही कहो,
अबला-सुता रोया-करे, निश्चिन्त तुम बैठे-रहो ।
पाखण्ड यदि यह है सभी, तो लोभ तुम-भी छोड़-दो,
त्रैलोक्य-से अपना पुराना, आज नाता तोड़ दो।
होगा लिखा जो भाग्य-में, भोगूँ सहर्ष सभी वही,
पर, जान लेगा विश्व, रक्षक है न अब उसका कही ।

वह भीमजा-का प्रार्थना-स्वर अकस्मात् बदल गया,
कँप-सी कनकवल्ली गई, बल सुतन-मे आया नया।
तन-सा गया कुछ भाल, अमृताधर सरुष हिलने लगा,
हो वायु-से कम्पित सुमन-बन्धूक ज्यो खिलने लगा।
सित मोतियो-से दाँत सहसा, अधर ऊपर आ-गये,
ज्यों रक्त-मणि-पर श्वेत-नग, सुषमा-सहित हो छा-गये।
आवेश आया और श्वासे, उष्णतर होने-लगी,
अवलोचिता उसकी सभी, वह शीघ्र कोमलता भगी।
दृग-मे अरुणिमा-छा-गई, अगार से जलने लगे,
लक्षण प्रगट थे क्रोध-के, कारुण्य के ढलने-लगे।
रवि-की प्रखरता-मे सभी, शशि-शैत्य परिणत-हो गया,
उस नागिनी-के सम हुई, जिसका सु-धन मणि-खो गया।
अञ्चल खिसक-सा था गया, जाना नही इसने उसे,
निज वेश-भूषा ध्यान रहता, क्रोध-मे कब है किसे!
उस-काल केशो-बीच, उसका रक्त-मुख यो चमकता,
रवि प्रात का ज्यो, श्याम-घन-के पटल-मे हो दमकता।
निज बोल मे हसी-सदृश जो अमृत पहले घोलती,
अब थी वही घन-घोष सी, अपभीत होकर बोलती।
वह ईश की थी प्रेरणा, सद्धर्म की या शक्ति थी,
आर्य्याबला-का क्रोध था, सु-पुनीत या पति-भक्ति थी।
हा, हा, न कोई लोक-मे, क्या-आज है ऐसा-बली,
होकर कुपथ-गामी यहाँ, ये देव जो आये छली।
जो दण्ड इसका दे इन्हे, ये फिर न जो ऐसा-करे,
कामुक - हुए तनया किसी-की, फिर न जो ऐसे-हरे।
सुनते न ये, मै प्रार्थना हूँ कर चुकी इनकी सभी,
कोई मिली थी किन्तु, ये-भी जान जायेगे अभी।
रे पातकी ! देवी अहल्या-सी, तुम्ही ने भ्रष्ट की,
कितनी न जाने, साध्वियो-की साधुता है नष्ट की।

कब, देखकर सौन्दर्य तुम निज-पर नियन्त्रण रख-सके,
है खेद, अब तक भी न जो, तुम हाय ! छल पथ-से थके।
ठग-कर निरीह दधीचि को फिर भी नही लज्जित हुए,
जो, आज भोली-बालिका छलनार्थ यो सज्जित-हुए।
साक्षी तुम्हारी-दे रहे, शत नेत्र ये उस रात-की,
फिर भी न अपनी प्रकृति हा ! तुम तज-सके उत्पात की।
थे शूर यदि यम ! तो न क्यो, तुम शूर-सम्मुख डट-सके,
कैसे, तुम्हारे महिष-के तब शृङ्ग रण-मे कट-सके।
भागे बचाकर प्राण तब, अब शूर-बनकर हो-डटे,
है सामने अबला, अत तुम आज तनकर हो डटे।
हे अनल ! क्या-तुम भूलते-हो जब गये हिम गिरि तले,
शिव-को सजग करने कबूतर बन, स्वय पर ही जले।
यह सर्वभुक्ता आज-भी उसका ज्वलन्त प्रमाण है,
रे ! धूम-का होना तुम्हारे शौर्य-की पहचान है।
हे वरुण ! तुमको याद होगा, जब गये थे तुम छले,
यह पाश उलटा पड - गया था, तब तुम्हारे ही गले।
स्थिरता तुम्हारी आज की, थी उस-समय रण-मे कहाँ,
आती न अब भी लाज तुमको, पापियो ! बैठे यहाँ।
मै प्राण तजती हूँ अभी, पर वचन तज-सकती नही,
भज एक-पति अति-दीन, सुर फिर भूल-भज सकती नही।
पीछे-मरूँगी किन्तु, पहले शाप मै-दूँगी तुम्हे,
काली-मसी से जो तुम्हारे, मुख पुते दीखे-हमे।
तुम हो पिता, मै हूँ सुता, जाना सदा मैने यही,
हाँ, हाँ, पिता के भी पिता, माना सदा मैने यही।
तुम आज यो अपनी सुता-से ब्याह करना चाहते,
धर कर कपट का रूप, मुझको आज हरना चाहते।
यदि, तुम सफल इसमे हुए, तो विश्व यह जल-जायगा,
अमर व भी अमगे ! तुम्हारा श्वास-से गल-जायगा।

निषधेश को तज, अन्य-के यदि कण्ठ-मे माला-पडे,
तो, भस्म हो जाये अधम वह, छार बन नभ-मे उडे।
नभ-मे न रवि, शशि रह सके, वह छार लगने-से सभी,
लघुता-महत्ता विगत-हो, छा-जाय ऐसा-भ्रम अभी।
जब पिता ही पति-बन गये, तब क्या-धरा रह पायगी,
हा, हा, पुनीता भूमि कैसे ! पाप यह सह-पायगी।
ब्रह्माण्ड जल-कर राख होगा, सोत सब उलटे बहे,
मर जाँय पर, यह दनुजता, क्या-हम मनुज-होकर सहे।
हे राम ! यह दुष्कृत्य मुझसे ही कराना था तुम्हे,
अघ-भार खुद निज शीश-पर मुझसे धराना था तुम्हे।
मै क्या-करूँ जगदीश ! यदि इच्छा तुम्हारी है यही,
पर, समझलो, कोई तुम्हारा नाम अब लेगा नही।
कहती हुई भैमी वरणमाला लिए आगे-बढी,
मानो, बुभुक्षित सिहनी, पा भोज्य निज गृह-से कढी।
हिलने लगे, फण शेष के कम्पायमान धरा हुई,
विधि, विष्णु, और महेश को कुछ अकथनीय त्वरा-हुई।
दिग्गज कँपे, रवि स्तब्ध थे, दर्शक-हुए भयभीत-से,
कल्याण उन सब को जँचा अपना, सती-की जीत-से।
डाली तभी उसने गले मे, एक नल के स्रज अहा—
देखा सभी ने उस समय था एक वह कौतुक-महा।
वर-माल-से शोभित-हुए बैठे, निषधपति नल वहाँ,
चारो अमर बैठे प्रकृत है वह अनोखा छल कहाँ।
सब के मुखों-से जय सती, जय-जय-सती निकला तभी,
अवलोकते सुर-ज्योति-को, होकर विमोहित जन-सभी।
उठ मच-से देवेन्द्र ने, कर भीमजा-सिर-पर धरा,
बोले - सुहाग रहे सुते ! अक्षुण्ण और हरा-भरा।
उज्ज्वल स्व-कुल तुमने किया, निज शक्ति दिखलाकर नयी,
सौ बार तुमको धन्य ! पति-भवते ! शुभे ! तेजोमयी।

बल प्राप्त-कर तुम-सी सती-का, टिक-रहा ससार है,
शशि, सूर्य, भू, नक्षत्र-गण का भी, यही आधार-है।
है धन्य, अर्य्यावर्त्त, तुमसी-प्राप्त-कर सबला-सुता,
निज सिर न क्यो, ऊँचा-करेगा, गर्व-से तेरा पिता।
शुभ कार्य मे भद्रे ! कभी सुर विघ्न करते है नही,
सोयी-हुई सी, शक्ति-को हम सजग आ-करते कही।
जिस दिन सुना हमने कि, तुम निषधेश को हो वर-चुकी,
परिणत न था वह कृत्य-मे, सकल्प तो पर कर-चुकी।
इच्छा-जगी तब-देखने की, इस तुम्हारी शक्ति-को,
आदर्श समझे विश्व-नारी, जो इसी पति-भक्ति को।
आछन्न हो जब तिमिर, तब आदर्श यह आलोक हो,
निज व्रत-सभी पूरा करे, दुख-दैन्य-हो, या शोक-हो।
जो, मार्ग तुम दिखला चुकी, उस-पर सभी चलती-रहे,
इस शक्ति-से बाधा भयानक विश्व-की जलती-रहें।
वह दिव्य सावित्री-प्रदर्शित पथ, पुराना हो चला,
अब इसलिए भद्रे ! तुम्हे-हमने-यहाँ-फिर आ-छला।
तुमने किया वह पथ नया, तुम-हो रमणियो-मे रमा,
कटु-वचन जो तुमने कहे, वे कर-चुके हम सब क्षमा।
अब माँगलो, तुम और कुछ, देना तुम्हे हम चाहते,
जय जय सती, जय जय सती, जय जय सुते, जय जय सुते !
तेजोमयी वह शक्ति थी, कमनीय देवो-की प्रभा,
अवलोकती जिसको रही चित्राकिता-सी सब सभा।
अनजान-में ही सब सभासद, मुग्ध-हो अब कह-उठे,
जय जय अमर, जय जय अमर! जय-जय-सती, जय सुव्रते !
पावस-नदी मर्याद-तज, ज्यो बह रही हो वेग-से,
थी भर्त्सना भैमी खड़ी, त्यो-दे-रही आवेग-से।
अब बाढ़ थी वह शान्त, सरिता कूल-मे फिर आ-गई,
फिर से मनोरम-मृदुलता, उसके वदन-पर छा-गई।

"जय देव जय देवेन्द्र हे, जय जय पिता करुणा-निधे !
जय लोक पालक!दीन रक्षक ! सौख्य प्रद ! पावन विधे !
कहती-हुई भैमी झुकी, क्रम-से सुरो-के सामने,
पर, छू न पाई चरण, पहले-ही लगे सुर-थामने।
फिर उठ निषधपति भी सुरो-के, पदो-मे क्रम से लगे,
बैठे हुए निज ठौर दर्शक, चकित थे भ्रम-से पगे।
गूँजा किया फिर देर तक, जय देव, जय करुणा निधे !
जय लोक पालक ! दीन रक्षक ! सौख्य प्रद ! पावन विधे !
"जब सामने है देव, तो सब याचना निश्शेष है,
आनन्द तन-में भर रहा, प्रभु-का मनोहर वेश है।
आदेश जब प्रभु दे रहे, तो माँगना ही इष्ट है,
हे देव ! है यह प्रार्थना ऐसा, परीक्षण क्लिष्ट है।
है घोरतर यह दु.ख हे प्रभु ! लोक मे फिर हो नही,
कोई सती ऐसी द्विधा-में, फिर न पड पाये कही।
सिन्दूर मेरी माँग-का प्रभु, मृत्यु-तक साथी रहे,
ये शब्द उसने संकुचित स्वर-मे, तनिक रुक कर कहे।
सुर-सघ की वाणी तभी, थी 'एवमस्तु' वहाँ हुई,
कुछ काल पहले की उदासी, सभा की सहसा खुई।
यदि धर्म पर देवी, तुम्हारे आक्रमण कोई करे,
तो, देखने-भर-से तुम्हारे हे सती ! वह जल-मरे।
जब तक रहेगे सूर्य शशि, तब तक अमर हो यह कथा,
जिससे सदा सतियाँ करेगी विगत अपनी-दुर्व्यथा।
यह लोक हे भद्रे ! तुम्हारे गीत यश के गायगा,
पथ भ्रष्ट नारी-गण तुम्हे, कर याद नव-बल पायगा।
क्रम-से अमर-गण ने कहा—फिर भीम-नृप भी आ-गये,
करके प्रणति मंगल-मयी उनसे शुभाशिष पा-गये।
फिर देखते ही देखते, सब देव अन्तर्धान थे,
होने लगे मंगल, सभी करते सती-गुण गान थे।

धात्री बढी, अक्षत-सहित रोली लिये थी थाल-मे,
भैमी - सु-कर से तिलक लगवाया, निषधपति भाल-मे।
निषधेश रोमाञ्चित हुए, मन हर्ष-से गद् गद् हुआ,
सहसा अनिर्वचनीय-सा, आह्लादकारी मद-हुआ।
होने लगी फिर नगर-मे कर-ग्रहण की तैयारियाँ,
अवलोकने नल को हुए प्रस्तुत सभी नर-नारियाँ।
इस ओर से जब स्वर्ग, देवचतुष्टयी जाती चली,
उस ओर से आते उसे, पथ-मे मिले, तब 'कलि' बली।
कर प्रणति तब सुर-वर्ग को 'कलिदेव' ने हँसकर कहा—
दर्शन हुए देवेन्द्र के सौभाग्य है सचमुच महा।
है हो रहा भैमी-स्वयबर देव भी पहुँचे वहाँ,
यह सुन स्वयबर देखने मै भी स्वयं आया यहाँ।
यह तो कहे सुर-पूज्य इतने शीघ्र क्यो, लौटे अरे!
भाये नही क्या भूमिजो के ठाठ भावुकता-भरे।
यह तो नही, यो बात काटी, इन्द्र ने कलि की तभी,
उन भूमिजों के ठाठ से, हम रह गये विस्मित सभी।
पर, हो चुका है वरण, नल को भीमजा ने वर लिया,
फल पा लिया निषधेश ने जो पुण्य-चय पहले-किया।
"ऐ, वर लिया निषधेश को, विस्मय-सहित कलि ने कहा—
अपमान क्या यह भीमजा ने आपका न किया महा।
बैठे रहें सुर-सौम्य, भैमी एक मानव-को वरे,
सुर-वर्ग के अपमान-की है क्या-न यह सीमा अरे!
पर, क्या-कहूँ मै, जब स्वयं-ही देव कुछ सोचें नही,
यह तो सुनूँ—क्या दण्ड उसको दे चुके है प्रभु वही।"

"क्या दण्ड हम देते उसे जिसने किया शुभ-कर्म है,
दण्ड्या न आदरणीय वह, जिसने निबाहा धर्म है।

वह पूर्व ही व्रत कर चुकी थी निषधपति के वरण-का,
सकल्प तज, उसके लिए तो, अन्य पथ था मरण-का।
वह है सती इस हेतु निज व्रत छोड सकती थी नही,
वह कर्मठा निज मार्ग-से, मुख मोड सकती थी नही।
सम्यक् बँधा जो स्नेह से सम्बन्ध है वह लोक-मे,
विपरीत इच्छा-के युगल को, वह जलाता शोक-मे।
जो, प्रेम करते थे परस्पर प्रथम-ही दोनों जने,
हे मित्र ! समुचित ही हुआ जो आज वे दम्पति बने।
सविनोद वह मरती, न अपना मार्ग-पर, तजती-कही,
भजकर प्रथम पति एक, फिर वह अन्य को भजती नही।
यो, कह रहे थे इन्द्र, पर, कलि बीच-मे बोले तभी,
थी वदन-पर मुस्कान "तुम तो बहुत ही भोले सभी।
देवापमान करे तनिक-सी धृष्ट मानव छोकरी,
होकर अनादृत भी न उसको, आप कहते है बुरी।
समुचित हुआ कहते जिसे ! वह उचित है किसके लिए,
उसके लिए ही तो, कि जिसने देव है लज्जित-किये।
दुष्कृत्य भी तो एक के हित उचित ही होता प्रभो !
पर, क्या-न यह ही दूसरे-का, सुहित है खोता प्रभो !
यदि भीमजा कुछ भी न इसका, दण्ड सत्वर-पायगी,
सोचो, न फिर कुछ देव-सत्ता, लोक-मे रह जायगी।
उसका न फिर क्या-और भी इस मार्ग-मे साहस बढ़े,
है अर्थ इसका लघु-मनुज-भी, देवगण के सिर चढे।
अब दण्ड-मै दूँगा उसे, मेरी प्रतिज्ञा है यही,
देवापमान करे न जिससे, भूल फिर कोई कही।
निषधेश-के वह साथ, सुख-से अब न रहने पायगी,
देखूँ-भला-वह छोकरी, कब-तक मनुज-गुण-गायगी।
कैसा, पतिव्रत धर्म उसका, देखना यह है मुझे,
होकर विवश वह सुर-विरोधी दीप सत्वर ही बुझे।

तब चौककर देवेन्द्र बोले, मित्र ! तुम क्या कह गये,
अविवेकिता के सिन्धु-मे, तुम मूढ होकर बह गये।
हम थे गये केवल वहाँ, उसके परीक्षण-के लिए,
हित सोचकर सब लोक का, सन्मार्ग-दर्शन के लिए।
वह है सती साध्वी परम, हम देख सब कुछ ही चुके,
होकर विवश, भीमात्मजा के सामने हम सब झुके।
सुख पूर्ण हो उसको, यही है आज केवल-कामना,
दुस्साध्य उसके सुपथ से है उस सती को टालना।
छोडो अत: यह व्यर्थ का पचडा चलो, वापस चलो,
समुचित न है यह वीर ! जो तुम सुमन मर्दन-पर तुलो।
उसके सुयश को ही बढायेगा, उसे जो कष्ट हो,
अवलोक कर उस सिहनी को, स्वय ही दुख नष्ट हो।
रखना कनक को ताप-मे, गुण-दान करता है यथा,
दृढ निश्चयी को ताप भी, यश मान से भरता तथा।
रे ! सामने उसके न कुछ भी, छद्म चलने पायगा,
यदि क्रोध उसको आ-गया, ब्रह्माण्ड ही जल जायगा।"

"मै कर चुका प्रण अलग वह कुछ समय निज पति-से रहे,
पूरी प्रतिज्ञा अब करूँ, यों वचन तब कलि ने कहे।
देना न कुछ भी कठिन उसको दु ख, जिसमें दोष है,
नल खेलते हैं द्यूत, बस इससे मुझे सन्तोष है।
वह श्रेष्ठ गेही है प्रभो ! मै जानता हूँ यह सभी,
आदर्श, सौम्य, सु-सभ्य है मै मानता हूँ यह सभी।
बान्धव-विरोध परन्तु है, दुरुपाय ऐसा लोक-में,
करके पतन जो, उन्नतो-को भी जलाता-शोक में।
ऐसा करूँगा यत्न मै, कुछ समय तो लग-जायगा,
पर, बन वियोगी कुछ समय तक वह युगल दुख पायगा।

नल-बन्धु-पुष्कर का बनूंगा, मित्र मै जाकर वहाँ,
तब देव के अपमान का फल दूँ, समय पाकर जहाॅ।
कुछ समय-मे दुस्सग मेरा, बीज वह बो-जायगा,
करना न जो मुझको पडे, सब कुछ स्वयं-हो जायगा।
जाना न फिर मुझको पडेगा, भीमजा-के सामने,
देवेन्द्र फिर जाते हुए-कलि-का लगे कर थामने।"

बहुत प्रकार उसे समझाया, किन्तु नही वह माना,
दुष्ट-प्रकृति यह कभी न माने, जब विबुधो ने जाना।
कहा-उसे यो, देख सती-को बल-भी निर्बल होगा,
बिगड़ न उसका सके कही कुछ, यश अत्युज्ज्वल होगा।

वचन यो कह देव-गये सभी,
स्व-पथ-मे,कलि-भी चलते बने,
प्रकृति है यह दुष्ट-समूह-की,
सुपथ-मे वह शूल बने-तने।

अष्टम सर्ग

धन्य हो कुण्डिनपुरी तुम धन्य,
भूमितल पर हो प्रथम तुम गण्य।
भीम नृप का प्राप्त कर तुम स्नेह,
भर रही धन धान्य से निज गेह।
और देकर रत्न - लोक ललाम—
कर चुकी हो अमर अपना नाम।
आज तुम क्यो, सज रही हो पूर्ण,
दर्प कर अमरावती का चूर्ण।
द्वार कदली - जन्य है सब ठौर,
दीखते सब पौर हर्ष - विभोर।
स्वागतार्थ समागतो के द्वार—
समुत्सुक है पहन बन्दनवार।
रँग विरगे धार तन पर वस्त्र—
घूमती जन - भीड़ क्यो, सर्वत्र।
ओह, समझे युगल धारा भिन्न—
बह रही, हो जाँय आज अभिन्न।
दे उन्हे सम - सह - गमन निष्काम,
बनोगी तुम स्वय सगम - धाम।
इसलिए ही तो तुम्हें यह हर्ष,
सौख्य - दाता है स्वय उत्कर्ष।

उधर वे गज पर चढे निषधेश—
आ - रहे अभिराम, धर वर - वेश।

शोभती है वक्ष - पर जयमाल,
दीप्त, रवि-सम कान्ति से है भाल।
कर रहा विधु-मुख सुधामय वृष्टि,
और निज पर नेत्र-खञ्जन-सृष्टि।
मुकुट को धारण किये है भाल,
स्कन्ध - पर कच, फहरते से व्याल।
चमचमाते वस्त्र, दिव्य सु-रूप,
लग रहे देवेन्द्र से, है भूप।
अन्य गज पर अनुज हैं उपविष्ट,
दीख पडते शान्त शिष्ट वरिष्ठ।
और भी अगणित नृपति वे संग—
स्यन्दन - स्थित जा-रहे स-उमङ्ग।
एक से है एक वेश विचित्र,
बज रहे बहु भाँति के वादित्र।
हैं सुसज्जित उन सभी के यान,
हो रहा अवलोक उनको भान—
स्वर्ग से आ, सुर-सहित सुर राज—
चल रहे कुण्डिनपुरी - में आज।
और अगणित नागरिक है संग,
हो रहे घर्षित परस्पर अङ्ग।
देखने को झुक पडे नर नारि—
निषधपति वदनेन्दु की उनिहार।
काम अपने बीच - ही में थाम—
चढ गई घर की छतों - पर वाम।
डालती काजल दृगो मे एक,
किन्तु आया शीघ्र वर को देख।
चल पडी वह दर्शनोत्सुक दौड,
एक दृग अञ्जन-रहित ही छोड़।

स्रस्त वसना ही कही कुछ नारि––
देखती थी, खोल कुछ कुछ द्वार।
थी झरोखों में वधू आसीन,
नल सलिल, मानों, बनी वे मीन।
बने वातायन कमल के तुल्य––
और उनमे कृष्ण - दृग बहुमूल्य––
घूमते थे अलि - सदृश स्वच्छन्द––
पी रहे, नल-रूप-मधु-मकरन्द।
कह उठी अवलोक नल को एक,
हे सखी! यह रूप सुन्दर देख।
हो पुनर्भव आ - गया क्या - काम,
भीमजा के अर्थ धर नल नाम।
छवि अनोखी, नेत्रहारी कान्ति,
हो रहा अवलोक कर मन शान्त।
भीमजा, पूजा करे ये पाद,
मिल गया तप - फल उसे अविवाद।
क्यो - न इस पर प्राण देगी वार,
विश्व के सौन्दर्य - का यह सार।
धन्य, भैमी - सुन्दरी तुम धन्य,
है किये कितने न तूने पुण्य।
जो मिली सौन्दर्य - गुण की राशि,
सफल जप तप व्रत सुविद्याभ्यास।
भाग्य नल का भी न पर कुछ अल्प,
फल न इसके पुण्य का भी स्वल्प।
प्राप्त जो जग-सुन्दरी प्रिय-वाम,
विश्व-शोभा, शुभ-गुणो की धाम।
एक से बढ एक सुन्दर रूप,
एक से बढ़ एक दिव्य अनूप।

पा गये प्रिय - कौमुदी को इन्दु,
मिल गया प्रियतम, नदी को सिन्धु ।
कर रहे जन मुग्ध हो गुण - गान,
और दृग-से छवि-सुधा का पान ।
भाग्य अपने नृपति का भी धन्य,
हुआ सम्बन्धी कि, यह नृप-गण्य ।
ठीक भैमी कर चुकी है ठीक,
सुर-विमुख वह वर चुकी है ठीक ।
सुलभ था यह कब सुरों मे रूप,
और इनसा कौन ! भूप अनूप ।
नारियो मे भीमजा ज्यो श्रेष्ठ,
नरो मे निषधेश है त्यो श्रेष्ठ ।
छिड रहा सर्वत्र यह आख्यान,
आ-गया तब तक नृपौक महान् ।
दीप्त-सा था रमणियो से द्वार,
कर रही थी, सुखद मङ्गलचार ।
सिर-धरे जल-घट, खड़ी थी नारि,
पुष्प-लाजा वृष्टि-रत, सुकुमारि ।
उतर गज से, वर चले उस ठौर,
घिर रहे चहुँ ओर उनके पौर ।
मधुर गीतो मे सुधा - सी घोल,
कर रही स्वागत, स्त्रियाँ जी खोल ।
चल पड़े वर को लिवाकर दास,
उड रही मादक मधुर शुचि वास ।
मणि-जटित आसन बिछा बहुमूल्य,
निषधपति बैठे, रमापति-तुल्य ।
कर-उठे द्विज साम का मधु-गान,
उधर छोड़ी तरुणियो ने तान ।

पुष्प विकसित को यथा स्रजकार—
अर्थ पूजा के सयत्न सँवार—
और, पहुँचाकर निकट सुर-मूर्त्ति,
समझता, अपने सुकृत की पूर्त्ति।
त्यो, सुसज्जित भीमजा का हाथ—
पकडकर बहु सेविकाये साथ—
कर गई वर के निकट आसीन,
चन्द्रिका थी स्वय जिससे हीन।
किया फिर वर का वधू ने मान,
पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य, प्रदान।
और दे मधु-पर्क प्राशन-हेतु—
किया अघ - तारण समर्पित सेतु।
सुर - वरार्चन पूर्ण कर उस काल,
प्रज्वलित की द्विजो ने मख ज्वाल।
वर वधू देते उसे प्रिय हव्य,
प्रज्वलित था अनल, खा प्रिय द्रव्य।
उठ रहा उससे सुवासित धूम,
घिर गया नभ मे जलद - सा झूम।
कर गया पर वह वधू - दृग लाल—
और स्वेदित सुन्दरी का भाल।
हो उठे कुसुमाभरण कुछ म्लान,
दमकते आरक्त होकर कान।
था प्रगट मुख पर सुखद आरुण्य,
या द्रवित वह ताप से तारुण्य।
भ्रम हुआ, मानो मुकुर मे ज्वाल—
रहा हो प्रतिबिम्ब अपना डाल।
दृगो से अञ्जन बहा उस काल,
(क्यो रहे दृग असित, जब मुख लाल।)

रोकते उसको परन्तु कपोल,
छिटक आये वदन पर कुछ चोल।
मृग-सहित प्रकटित हुआ निशिनाथ,
पकडकर द्विज ने वधू का हाथ—
दिया अभ्युत्थान, वर के सग,
स्फुरित होते युगल के शुभ अङ्ग।
घूमते थे अनल के सब ओर—
वर वधू मिल साथ, हर्ष-विभोर।
पकडते जब वर, वधू का पाणि,
खेलती तब स्वमुख पर मुस्कान।
और होते हृष्ट तन के रोम,
दौडता सा रक्त मे रस सोम।
उधर भैमी-पाणि-पल्लव स्विन्न—
हर्ष से होता, न थी उद्विग्न।
फिर हुआ आयुष्य लाजा - होम,
देव थे परितुष्ट, विहँसा व्योम।
खिल रहे थे पुष्प से नक्षत्र,
देखकर युग चन्द्र से एकत्र।
प्रण किये प्रेमार्थ युग ने घोर,
हविर्भुक साक्षी, अमर थे और।
मुदित वर ने, प्रिया-केशो बीच—
दी अहा, मागल्य रोली सींच।
अरुण का सा था उदय, तम चीर,
प्रेम का या अभ्युदय गम्भीर।
पाणि-पीड़न हो गया यो पूर्ण,
तब उठे युग, और सब भी तूर्ण।
दिया फिर सबने, उन्हे सह-मान—
द्रव्य, मणि माणिक्य आदि प्रदान।

आ-गये तब तक विहँसते भीम,
साथ मे ले देय द्रव्य असीम।
मुदित मन हो पूर्णत. नि स्वार्थ,
दे दिया वह अर्थ सब तनयार्थ।
और दे सब आगतो को मान,
मानकर आभार, कर गुण-गान—
दी विदा अब सब, करे विश्राम,
पूर्ण यह सब की कृपा से काम।
पाणि-पल्लव प्रेयसी का थाम—
वर चले, बैठी जहाँ बहु वाम।
उठी स्वागत - हेतु वे सविनोद,
बढ रहा अन्तःपुरी मे मोद।
उधर भक्षण-पान मे सब व्यस्त—
हो रहे थे भूप अभिलाषास्त।
इधर सुन अपने सुयश के स्तोत्र,
पी-रहे पीयूष-नद वर-श्रोत्र।
कर रही थी तरुणियाँ कल केलि,
भर रही थी रमणियाँ रँग रेलि।
"हंसनी का देख फैला जाल,
फँस गया री ! ढीठ आप मराल।"
"राजहसी हस के थी योग्य,
पा लिया युग ने युगल का भोग्य।"
यो विहँसती षोडशी की पाँति—
सिद्ध थी प्रश्नोत्तरी इस भाँति।
चल रही मन-मोदकारी बात,
कब रुकी पर, मधु क्षणों में रात !

दिवस अग्रिम भीम ने कर प्यार ।
कहा-नल से वत्स ! दिन दो चार—
और ठहरो, समझ कर निज गेह,
प्राप्त हो दमनादिको का स्नेह ।"
"तात ! जाना था यदपि अनिवार्य,
पूज्य का पर वचन शिरमाधार्य ।"
मान आग्रह रुक गये निषधेश,
और सब आगत गये निज देश !

योग्य सुन्दर है गुणज्ञ अमत्त,
नृपति नल के अनुज पुष्कर दत्त ।
विदर्भाधिप ने उचित ही मान,
योग्य अपनी भातृजा के जान ।
कुमुदनी सा सुखद उसका नाम,
बहन के ही थी सदृश गुण-धाम ।
कर दिया युग का पवित्र विवाह,
हो गये निश्चिन्त तब नरनाह ।
विदित भैमी केशिनी का प्रेम,
साथ रहने मे युगल का क्षेम—
जानकर नृप भीम ने स-उमङ्ग,
कर्ण नामक नल सखा के सग—
किया विदुषी का विवाह पुनीत,
प्राप्त कर लय, सिद्ध से थे गीत ।
ठहर कर कुछ दिन वहाँ निषधेश—
चले, सानुज सैन्य-युत निज-देश ।
गुरु जनो को पूर्ण दे सत्कार,
प्राप्त उनसे स्वस्तियुत कर प्यार ।

इधर आली - सहित होकर खिन्न,
भीमजा होने लगी गृह - भिन्न।
विदा उसको दे रही थी अम्ब,
मिल गया लतिके ! सुखद अवलम्ब।
हो रहा पर शोक व्याकुल चित्त,
जा रहा है गोद का जो वित्त।
द्वार पर सज्जित खड़ा था यान,
भीमजा बैठी उसी-मे म्लान।
घुट रहा था मन अनन्योपाय,
छुट रहा था सकल परिजन हाय !
पर, दमन दम दान्त ने दे तोष,
शान्त भगिनी का किया आक्रोश।
ले अहा, वह विजय-लक्ष्मी साथ,
आ-गये निज प्रान्त मे नरनाथ।
उड रहे जय जय विजय के केतु,
थी समुत्सुक प्रजा दर्शन-हेतु।
सुन चुके शुभ वृत्त यह सब पूर्व,
भेंट भूपति को मिली कि अपूर्व।
मान उनको प्रतिपदा का चन्द्र—
देखते जन निर्निमेष अतन्द्र।
राजमहिषी सहित कर नृप-मान,
किया सब ने प्रगट प्रेम महान्।
राजमाता का अहा - वह मोद,
भर गई थी आज दूनी गोद।
कर रही थी आरती, दुख दूर,
द्रव्य दीनो मे बँटा भरपूर।
लिया वधुओ को, दिये आशीष—
अचल हो सौभाग्य इनका ईश !

राज्य में उत्सव हुए सर्वत्र,
हो रहे कल्याणकारी सत्र।
दृढ विशाल नरेन्द्र-भुज-वि-श्रान्त—
धर चुके फिर राज्य-भार नितान्त।
सौपकर, नृप का उन्ही को भार,
सब अमात्य हुए प्रसन्न अपार।
दे रही थी भूमि अति धन धान्य,
पुज रहे सर्वत्र ही नृप मान्य।
मुग्ध थे जन देख, भूप चरित्र,
समझते उनको सभी निज मित्र।
मेदिनी का सौख्य भैमी-सग—
लूटते नृप, प्रेम का था रग।
सचिव नारी, मित्र का सब काम—
कर रही थी भीमजा निष्काम।
थे मुदित सारे प्रजा परिवार,
हो रहे सर्वत्र मगलचार।
आ - रहे थे गगन मे आदित्य,
विभव भव को दे नियम से नित्य—
पहुँच जाते साँझ-कर, निज गेह—
जोड़ती भव से निशा फिर स्नेह।
ठहर वह भी चञ्चला कुछ याम,
रोक जग के काम, दे विश्राम—
चली जाती सूर्य-सम ही गेह,
और जग से फिर वही रवि-स्नेह।
हो रहा इस भाँति ही गत काल,
विगत थे कुछ शीत वर्षा-ज्वाल।
मान दमयन्ती स्व-मन में मोद,
काल-क्षेपण कर रही सविनोद।

राज्य के चलवा - रही बहु-काम,
दे स्व-पति को योग, योग्या-वाम।
गर्भ-धारण कर लिया पा काल,
सुन जिसे हर्षित हुए नरपाल।
गर्भिणी के सब मनोरथ तूर्ण—
विज्ञ नृप करते स्वय सम्पूर्ण।
रह गया यदि कुछ अधूरा इष्ट,
(हो भले वह क्लिष्ट से भी क्लिष्ट।)
तो उसी से शीघ्र होगा म्लान,
गर्भ मे है दूसरा जो प्राण।
थे सचेष्ट महीप यह ही सोच,
कर न जाये कुछ प्रिया सकोच।
एक दिन ले सुखद पुष्प-सगन्ध—
देखती महिषी उसे सानन्द।
आ-गये सहसा, नृपति उस ठौर,
और देखा निज प्रिया की ओर।
सामने देखे खड़े नरनाथ,
मान देने को उठी वह साथ।
मुग्ध से युग थे खड़े क्षण एक,
सौख्य का मन मे हुआ अतिरेक।
उधर स्थित अलि, इधर पुष्पित बेलि,
की दृगो से युगल ने रँग रेलि।
निकट अपने प्राणपति को जान,
खड़ी हो मानो उषा अम्लान।
"हे प्रिये किसके लिए उत्थान,"
"प्राण पति का उचित ही यह मान।"
"भूलती हो गर्भ का यह भार,"
"विवश दासी को किये है प्यार।"

"ओह तब तो दोष मेरा आप,"
"कह गये क्या नाथ ! यह, हा पाप !
और भारी सा न है यह भार,
यह करे जन को भवार्णव-पार।
दम्पती सानन्द थे उपविष्ट,
दूर था अवसाद और अनिष्ट।
थे शुचिस्मित प्रेयसी के बोल,
कर्ण युग मे या सुधा का घोल।"
"नाथ ! देखो पुष्प यह अभिराम,
सुखद सुन्दर गन्ध शोभा-धाम।
सोहता जब एक ही इस भाँति,
तब अवश्य विमोहिका हो पाँति।
नेत्रहारी, विपिन का वह वित्त—
देखने को चाहता है चित्त।
तुम्हें भी क्या-दृश्य वही अभीष्ट,
पान वह, वन-प्रान्त-जल का मिष्ट।"
"हो न कवयित्री शुभे ! गुण-धाम,
कह दिया, यों-इष्ट, पर निष्काम।
वन भ्रमण तुम चाहती हो आज,
आ-गया सज साज जो ऋतुराज।
किन्तु है वह सरस - सुषमा - हीन,
तुम छटा उसकी, यहाँ आसीन।
अटल, कल होगा विपिन-प्रस्थान,
पिकरवे ! सुनना पिको का गान।
और देखो वह प्रकृति का रूप,
विहँस फिर बोले-वचन यों भूप।
पर, प्रिये ! वह बन्य पुष्पित कुञ्ज,
सामने इस पुष्प के तम पुञ्ज।

है इसे यह स्वर्ण-लतिका योग,
भाग्य-मे उसके कहाँ ये भोग।
जानता है मृग न ज्यो निज गन्ध—
घूमता दिन रात हो मद-अन्ध।
त्यो-तुम्हे निज रूप छवि का ज्ञान—
है न कुछ भी हे सुमुखि ! अनजान।"
चल रहा था हास्य-पूर्ण विनोद,
बढ रहा था दम्पतो का मोद।
दिवस अग्रिम राज्य का सब भार—
निज अमात्यो के करो-पर धार।
साथ लै कुछ सैन्य कुछ सामान,
किया दम्पति ने भ्रमण-प्रस्थान।
दिव्य से रथ-मे हुए उपविष्ट,
दे विदा उनको, फिरे सब शिष्ट।
हो न महिषी को कही कुछ क्लेश,
शनैः रथ चलवा-रहे निषधेश।
देखते निज प्रजा-के आनन्द,
थे चले जाते स्वय सानन्द।
राष्ट्र-का वैभव विलोक अपार,
हर्ष-का कुछ था न पारावार।
आ गया चलते हुए वन-प्रान्त,
स्वर्ग-की सी दिव्य जिसकी शान्ति।
सोहता था रथ पयोद-समान,
जल-सदृश उपविष्ट नृप मतिमान।
तडित-सी महिषी चमकती सग,
घोष ने की मोर-गण मति भग।
नाचते वे निज-प्रिया-के सङ्ग,
थी भरीं नृप स्वागतार्थ उमङ्ग।

दे रहे छाया समुन्नत - वृक्ष,
घूमते विनयावनत से ऋक्ष।
शिविर-हित सुन्दर सुखद-सा स्थान—
खोजते नृप-नेत्र - पद्म-समान।
देख सुन्दर एक सर - का तीर,
रुके दम्पति, साथ ही सब वीर।
भवन-सम तन गये शुभ्र वितान,
पुर सदृश शोभित हुआ वह स्थान।
कर वहाँ सब युक्ति युक्त प्रबन्ध,
श्रम विगत करने लगे सानन्द।

जा रहे थे रवि स्व-गृह की ओर,
छू रहा था तम क्षितिज के छोर।
विक्रमी नृप का श्रवण कर अन्त—
सिर उठाते दस्यु ज्यो अत्यन्त।
गगन-मे सर्वत्र त्यो ग्रह-माल—
दमदमाती थी उठाकर भाल।
किन्तु कर निष्प्रभ सभी को धीर—
वह सुधाधर हँस - पडा तम-चीर।
श्वेत-सी चादर मही पर डाल—
चल रहा दृग-मन-विमोहक चाल।
शिविर - में भी जगमगाते दीप,
चले तब रानी सहित अवनीप।
रुक गये जाकर सरोवर-तीर,
चमकते जल-कण सकल ज्यों-हीर।
प्राप्त थे अवसर जिन्हे अनुकूल,
गर्व - से अब भी खिले वे फूल।

"नाथ ! जल-में इन्दु का प्रतिरूप—
बन रहा कैसा विभा का स्तूप।
हर रहा मन को प्रभा से खीच,
कालिमा भी सुखद इसके बीच।"
"प्रिये ! मुख छवि से तुम्हारी आज—
हो गया श्री-हीन यह निशिराज।
प्राप्ति-हित उस लुप्त-छवि की हाय,
एक से ये दो हुए निरुपाय।
तदपि निष्प्रभ ही स्वय को देख—
शशि-वदन पर शोक की यह रेख—
कालिमा बनकर विराजी आज,
है असितता ही उदासी-साज।
हँस पडे शशि से अहा - नरनाथ,
थी लता भी विनत पुष्पित साथ।
घास ही बनकर प्रकृत्त दुकूल—
बिछ रहा शोभन सरोवर कूल।
कर विपिन का प्रान्त रम्य सनाथ,
दम्पती बैठे उसी पर साथ।
हो रहा चाञ्चल्य सर का लुप्त,
सो रहे जल जीव थे सब गुप्त।
छा - रही उस पर कही सैवाल,
सोहती जिसमें कुमुदनी - माल।
"प्रकृति नटि का बन्द है यह नृत्य,
रुक रहे सब जलचरों के कृत्य।
चन्द्रिका की धवल चादर तान,
हो रहा है सुप्त, विश्व महान।"
"समझ पाई हो न तुम यह सार,
सब यथावत् चल रहा संसार।

प्रकृति को क्षण-भर न पडती चैन,
मूदती है कब भला वह नैन !
गन्ध लेकर आ - रहा यह वायु,
बीतती क्षण-क्षण विभक्ता आयु।
बदलता प्रतिपल सकल नभ नील,
नित्य परिवर्तन जगत का शील।
उधर वह देखो, गगन में चन्द्र—
कर रहा निज कार्य पूर्ण अतन्द्र।
बदलता प्रति पल सलिल का ढंग,
बदलता प्रति-श्वास मुख का रग।
दे-रही सबको प्रकृति उपदेश,
व्यर्थ मत खोओ ! समय का लेश।
देह पाकर लक्ष्य हो बस कर्म,
कर्म ही तनुधारियो का धर्म।
कर्म उत्तम हैं, फलाशा - हीन,
कर्म - फल समझो। विधाताधीन।
कहा - देवी ने बताओ आर्य्य !
कौन है करणीय उत्तम कार्य !
प्रियतमे ! अच्छा सुनो, यह देह—
अमर आत्मा का बना है गेह।
देह का कर्त्ता, वही है ईश,
जो अलक्ष्य, अनन्त लोकाधीश।
देह यह व्यय हो उसी के अर्थ,
अन्यथा तनु - प्राप्ति समझो व्यर्थ।
ईश - सेवा, कृत्य मान महान्,
"किन्तु है वह क्या-कहाँ यह ज्ञान।"
"हाँ-सुनो, वह क्या-कहाँ यह बात,
स्वय है वह अजर अमराजात।

किन्तु यह भव है उसी का रूप,
व्याप्त कण-कण मे अदृश्य अनूप।
सर्वव्यापक यो उसी का नाम,
वह स्वय कर्त्ता, बना निष्काम।
जब उसी का रूप, जीव - अशेष,
कहाँ ! उसकी प्राप्ति-मे तब क्लेश।
ईश-सेवा का अत प्रिय वाम !
'लोक-सेवा' है सुमार्जित नाम।
जीव है सारे दया के पात्र,
हो उन्ही के हेतु व्यय यह गात्र।
बुद्धि से सोचो सतत कल्याण—
यह सुखी जो रहे विश्व महान्।
हो कही पर यदि दुखो की सृष्टि,
तो, करे जिह्वा सुधामय वृष्टि।
दीन दुखियो को बँधावे धीर,
कायरो को भी बनावे वीर।
हृदय मे सु-स्नेह हो पतितार्थ—
सदयता अपनी करे चरितार्थ।
भुज उठावे दीन - रक्षा - भार,
शुभे ! उनका क्षमा हो आधार।
और देखे नेत्र करके प्यार—
कीट - मे भी ईश की उनिहार।
पड़े कानो मे कही स्वर - आर्त्त,
तो, वहाँ पद पहुँच जॉय परार्थ।
जो न चल सकते उन्ही का भार—
कमर ले अविलम्ब निज-पर धार।
जन्म - धात्री - मान का हो ध्यान,
और सब आश्रित, सुखी-अम्लान।

बन्धु हो उनका, कि जो अभ्रात,
पुत्र उनका, जो असुत हों मात।
पा-सके आश्रय, कि आश्रय-हीन,
जी सके सानन्द जग - में दीन।
आत्मवत् ही हो सभी का ध्यान,
हो न ऐसा स्वार्थ, जो पर - हानि।
हे सुमुखि! यह ईश सेवा - रूप,
क्योकि है यह विश्व, ईश - स्वरूप।"
हट गया मानो सभी भ्रम - जाल,
तुष्ट रानी ने कहा तत्काल—
भेद सब आया समझ मे नाथ!
लोक सेवा से कि है विभु प्राप्त।
चल रहे थे विविध सुखदालाप,
हँस-रहे नभ-मे कलाधर आप।
अर्ध - रजनी का समागम जान,
और राज्ञी - सौख्य का कर ध्यान।
सो गये आ - शिविर मध्य निशक,
चन्द्रिका से युक्त आप मयक।
कर उठे प्रात विहग प्रिय - गान,
उठे दम्पति भी निशा गत जान।
बह रहा था शीत वायु सुमन्द—
साथ ले आह्लादकारी गन्ध।
कर चुके वे पूर्ण नित्य विधेय,
ईश-गुण गाये समुद फिर गेय।
रवि गगन-मे आ गये उस ओर,
हो उठे अरविन्द हर्ष - विभोर।
हो - रहा जगमग अशेष अरण्य,
स्व-कुलजो का देख मानो धन्य।

चल पडे वे भी प्रसन्न पदाति,
देखने को रम्य वन का प्रात।
"नाथ! मुक्ता-सी दमकती ओस,
धनद का बिखरा हुआ-सा कोष।"
"हे प्रिये! यह नारि-मन दौर्वल्य,
द्रवित हो बिखरा हृदय का शल्य।
समझ निशि, विधु से स्वकीय-वियोग,
और करके स्मरण बीते भोग।
रो-उठी बरसा गयी जल-नेत्र,
तब प्रिया बोली - किये चल नेत्र।
क्यो - न रोया नाथ! निष्ठुर इन्दु,
क्या न उसके निकट दो जल विन्दु।
प्रगट इससे तो हुआ यह आज,
सहृदया निशि, निठुर है निशिराज!"
"पुरुष का गुण ही प्रिये! काठोर्य,
क्योकि उसमे वास करता शौर्य।
प्रकृति मे जो है सरस अनुराग,
वह प्रिये! सब नारियो का भाग।
इधर शतपुष्पी खिली यह लोल,
पर न यह आरुण्य, तव मुख-मोल।
घिर रहे इस पर मुदित अलिवृन्द—
पी रहे पीयूष - सा मकरन्द।
भूलकर अपना सभी ये भान—
कर-रहे श्रुतिहर मधुरतम गान।
कुछ खिले, कुछ अधखिले है फूल,
"नाथ! अलि को चुभ गया वह शूल।
विद्ध हो पीडित हुआ वह हाय!"
"प्रेम का है मूल्य यह निरुपाय।

कह उठी तुम हाय ! दुःख विलोक,
सहृदया को क्यो-न हो पर - शोक ।
विद्ध भी देखो, भ्रमर उस ठौर—
डट - रहा है ढीठ, सिद्ध कठोर ।
सुमन सेवन किन्तु अलि का देख—
क्यो-खिची मुख पर कनकमय-रेख ।
हँस पडे उन्मुक्त - दोनो साथ,
बढ चले नृप पकड भैमी - हाथ ।
गन्ध से चाम्पेय की हो युक्त,
वायु बहता जा रहा उन्मुक्त ।
हे प्रिये ! आगे चलो उस ठौर,
फेंकती सी गन्ध चारो ओर—
हँस - रही जूही नवोढा तुल्य,
सुखो का, सत्कर्म ही है मूल्य ।
हरिण देखो, कर रहे कल केलि,
इधर यह स्वच्छन्द विस्तृत बेलि—
लिपट कर तरु से घिरी है आप,
छू - सकेगा क्यो इसे अब ताप ।
"नाथ ! तोडूँ पुष्प मै दो चार,"
"प्रिये यो स्वार्थी बनेगा प्यार ।
सह सका सौन्दर्य किसका स्पर्श,
दृष्टि का बस वह बढाता हर्ष ।
वृक्ष - शाखा, बन रही है झूल,
वायु वाहक, झूलते फल - फ़ूल ।
वस्त्र उडते, तदपि है श्रम-विन्दु,
अह-सुधा बरसा-रहा बदनेन्दु ।
इस स्फटिक सुन्दर शिला के पास—
बैठ जाओ बिछ रही मृदु-घास ।

छू रहे बढकर गगन को वृक्ष,
खीचते है आप मन को वृक्ष।
करेगी छाया सखी का काम,
धन्य होगी दे तुम्हें विश्राम।
कह सके ही थे कि सहसा हाथ—
धनुष पर पहुँचा अरे-के साथ।
प्रियतमे ! देखो उधर, मृगराज—
आ रहा-सज शूर का सा साज।
दीन को यह मार खाता धृष्ट,
निर्बलो को सर्वदा दे कष्ट।
उचित ही मै दूँ इसे अब दण्ड,
काल इसका आ-गया अब चण्ड।
सिहर दमयन्ती गई, सुन 'काल',
ठीक से कर शीघ्र बिखरे बाल।
और यो कहने लगी सविनीत—
नाथ ! क्या होगी न यह अनरीति।
इस समय यह है अवध्य अदोष—
तुष्ट है अवलोक निज वन - कोष।
मुड गया वह उधर, लो यह जीत,
कर गया स्वागत, निभायी रीति।"
"पर सुनो, यह धनुष की टकार—
सुन जिसे, उसने भरी हुकार।
धनुष-रव सुन सोचता वह वीर,
आ-गया कोई धुरन्धर धीर।
इस लिए भू-चूम, भर हुंकार—
वह चुनौती कर रहा स्वीकार !
है बड़प्पन मे प्रिये ! यह दोष,
अन्य उन्नति से न उसको तोष !

समझ उस हुकार को घन-घोष,
मोर कितना पा रहे-परितोष।
नाचते ग्रीवा किये है भग,
मुग्धभावा वे प्रियाये सग।
पँखो मे कितने भरे है रग,
देख होती मनुज मति तो दग।
लग-रहे नीलम जडे-से पक्ष,
कुशलता यह प्रकृति की प्रत्यक्ष।
हे प्रकृति की तूलिके! तू धन्य,
धन्य, तेरा कार्य-क्षेत्र अरण्य।
चलो! अब तो कर चुकी विश्राम,
झील देखो, दिव्य-शोभा-धाम।
और देखो, जा रहा वह ऋक्ष,
इधर यह विकसित वकुल का वृक्ष—
कर रहा तुमको समर्पित फूल,
श्रेष्ठ का क्षण-सग भी सुखमूल।
गन्ध इनसे उड-रही सर्वत्र,
कर-रहे नृप-लोग मानो सत्र।
झड रहा यह मुग्ध आप पराग,
इष्ट इसको प्रिया-पद अनुराग।
सामने शाल्मलि-विपिन उस ओर,
छू-रही वह गिरि-शिखा नभ छोर।
भर अहा, बहु पक्षियो से गोद,
प्रगट करता वृद्ध वट यह मोद।
सभी तरु-वर-कृत्य अपना जान—
कर रहे निस्स्वार्थ छाया-दान।
तन रहे आकाश-मे बन धीर,
बाँटते पर-हित, स्व-तन-धन वीर!

यह विहग-रव हो रहा दिग्व्याप्त,
अब हुआ कदली-विपिन अह-प्राप्त।
आज पर लज्जित हुआ यह आप—
सिर झुकाये, यो खडा चुपचाप।
समझता था कुछ न यह उद्भ्रान्त—
सदृश अपने स्निग्ध कोमल कान्त।
समझ निज-से स्निग्ध-कान्त-विशेष,
हे प्रिये वैदर्भि! तब उरु-देश।
हो गया नत, विगत है सब दर्प,
जा रहा वह! रेगता-सा सर्प।
विपिन-मे सब ओर से स्वच्छन्द—
खिल रही बढकर लता सानन्द।
चमकते है पुष्प, नीले पत्र,
नील-नभ मे उदित-से नक्षत्र।
बह-रहा नद इधर पथ-को रोक,
भर रहा झरना इसे बे-टोक।
पा रहा जो, सो लुटाता ओह,
कर सका कब अन्ध इसको मोह!
उन जनो से तो यही बडभाग,
जो कमाकर धन, न करते त्याग।
रेगता इस ओर कैसा! कीट,
तीर-सा नभ-मे गया वह ढीठ!
खिल रहे ये फूल कितने आप,
छू रहा इनको न भव का ताप।
आम्र वन का इधर प्राकृत कुन्ज,
बना-सुषमा का सुखद यह पुन्ज।
गूँजते अलि, मधुर पिक का गान,
और पीं पीं श्रव्य चातक-तान।

भर-रहा मन-मे अपार उमङ्ग,
छोडता-सा वाण गुप्त अनङ्ग ।
हो कवच-सी किन्तु तुम जो साथ,
व्यर्थ है सब स्वय इसकी घात ।
इधर ये शोभायमान अशोक—
दूर करते है जगत-का शोक ।
विपिन ! तेरा धन्य है प्रारब्ध,
दिव्य यह सब कोष तुमको लब्ध ।
और यह प्राकृत सरोवर भव्य,
विपिन-की शोभा बढाता दिव्य ।
कमल-वन की यह प्रभा निर्दोष—
दे रही कितना, दृगो-को तोष ।
वन भ्रमण से, मुग्ध है भरपूर,
चलो लौटे, आ-गये हम दूर ।
कर विपिन-मे भाँति, भाँति, विनोद,
देख प्राकृत दृश्य, पा अति मोद ।
ठहर कानन मे दिवस दो चार,
फिर-उठाया लौट नैषध-भार ।
समय पाकर भीमजा ने आप,
पुत्र जन्मा चन्द्र-सा निष्पाप ।
हुए अत्युत्सव नृपति के द्वार,
निषध-मुद का था न पारावार ।
नाम गुण-अनुरूप ही अवनीन्द्र,
प्यार से कहते उसे प्रिय-'इन्द्र' ।
समय पाकर भीमजा ने अन्य—
सुता पैदा की स्वयं-सी धन्य ।
किये नृप ने मख अनेक महान,
दीन हीनों को किया धन-दान ।

सुखी थे जन, थी न आधि, न व्याधि,
निषध था धन-धान्य-पूर्ण अगाध।
करने लगे दिनो-दिन भूपति, धवल सुयश-विस्तार,
देते दण्ड सदा दुष्टो-को, दीनो-को उद्धार।
रखते सतत प्रजा सुख दुख का पुत्र तुल्य वे ध्यान,
अत प्रजा-जन उन्हे पूजते, पिता-तुल्य ही मान।

नवम सर्ग

सचमुच जग-मे है संग ही रंग लाता,
सगुण-मनुज को भी, नीच-पापी बनाता।
पथ-विरत हुए को, मार्ग अच्छा दिखावे,
जन वह सु-कृती है, जो-कि सत्संग पावे।

निरख शीघ्र वहाँ चल लेखनी!
बन रहा वह जो सित सद्म है।
अतुल - वंश - विनाशन - ध्यान से—
कर रहा कु-सखा छल-छद्म है।

सुख कर सकता कब वास वहाँ,
कलि का हो स्वय निवास जहाँ।
सुख पूर्ण हुए, दुख-की बारी,
कर्मोपभोग है लाचारी।

थके हुए दिननाथ अभी निज घर गये,
कमल वनो-की सभी प्रभा वे हर गये।
हा-कोकी हत-हुई शोक पाने लगी,
निशा विश्व-मे तिमिर पटल छाने लगी।
राजभवन उस ओर प्रकाशित हो रहा,
तमी-तोम को स्वयं दमक-कर खो रहा।

नल के पुष्कर अनुज वहाँ आसीन है,
हर्ष-चिन्ह सब लुप्त, सोच मे लीन है।
कलि-सम गालव कुमति सखा वह पास है,
करता निज-अनुरूप कुत्सितायास है।
छिपा हुआ था अहित, वचन थे प्रेम के,
विष से हो परिपूर्ण, कलश ज्यो हेम के।
सखे ! स्वल्प सौभाग्य न मेरा है अहा,
जो तुम सा युवराज, मित्र मेरा रहा।
कई वर्ष हो गये, यहाँ रहते हुए,
तुम्हे देख इस-भाँति कष्ट सहते हुए।
होता था दुख मुझे, न पर कुछ कह सका,
क्षमा करो, जो आज न मै यह सह सका।
जिस माँ-से तुम हुए, उसी से वे धनी,
रहे किन्तु तुम दास, भूप वे अग्रणी।
होकर तुमको नलाधीन रहना पड़े,
नत-मस्तक निर्देश विवश सहना पड़े।
उनकी आज्ञा, वेद-मंत्र तुम मानते,
अपना भी हित अहित न कुछ पहचानते।
सुखभोगी देवेन्द्र-तुल्य निषधेश है।
और तुम्हे ये दैन्य-भरे सब क्लेश है,
एकाधिक सन्तान न भूपति की भली।
एक लता की भिन्न-रूप सी वे कली,
सुनी क्षुद्रता पूर्ण, मित्र की बात जब।
सहसा जलने लगा, नलानुज गात सब।
हो न मित्र अपमान, ध्यान करके यही,
बदल वदन के भाव, बात ऐसे कही।
तुम सा अच्छा मित्र, मुझे अह ! प्राप्त है,
मेरे दुख से जला तुम्हारा गात है।

बनी आज की प्रीति, किन्तु अनरीति है,
क्षमा करो ! यह बन्धु-भेदिका नीति है।
चन्द्र-वंश यह सहन भला कब कर सके,
मत कहना दुर्वचन, भूल भी फिर सखे।
अग्रज होता पूज्य, देव-सम लोक-मे,
मूल्य न उसका रहा कभी कम लोक-मे।
जीवन यो ही शान्ति-पूर्ण रस - सिक्त हो,
सद्भावो-का कोष न मेरा रिक्त हो।
उनकी आज्ञा सदा मुझे स्वीकार्य है।
मै हूँ उनका अनुज, ज्येष्ठ वे आर्य है।
क्यो-न, इसे सौभाग्य, स्वर्ण-अवसर कहूँ,
पद-सेवा-रत, ज्येष्ठ-बन्धु की जो रहूँ।
राज्य-भोग का मार्ग सखे ! दुस्तर बड़ा,
मुझसा उस पर हो न सके क्षण-भर खडा।
जन मन-रञ्जन करूँ, न मुझमे शक्ति है,
अग्रज-पद-हित, तनिक हृदय-मे भक्ति है।
लोक-भार को वहन करो, यह राज्य है,
प्रजा-धरोहर सेव्य, किन्तु अविभाज्य है।
पाप-पूर्ण यह मित्र ! तुम्हारी मन्त्रणा,
सुनकर ही बढ रही, हृदय-की यन्त्रणा।
तुम ही सोचो, सखे ! तनिक यह ध्यान से,
जो निज अग्रज बन्धु मुझे प्रिय प्राण-से।
उनकी पद-रति को ही, क्षति तुम मानते,
मेरा दुर्हित छिपा इसी में जानते।
एक सेव्य-को देख, हुए जब तुम दुखी,
पूर्ण-प्रजा हो सेव्य, रहोगे तब सुखी।
कर सकता यह कौन ! भला विश्वास है,
नृप होकर भी अनुज, ज्येष्ठ का दास है।

कण्टक-भू-पर, सुमन तुल्य जो खिल चुके,
उन-गुरु-जन से भाव हमे ये मिल चुके।
आर्य्य-सभ्यता यही, सुसंस्कृति है यही,
इससे ही हो रही सु-वासित यह मही।
मात-पिता गुरु-ज्येष्ठ सभी श्रद्धेय है,
इनकी आज्ञा शिरोधार्य, गुण-गेय है।
सखे! अनुज मै, राज्य न मेरा भोग्य है,
सभी गुणो से युक्त आर्य्य के योग्य है।
सभी प्रजा है उन्हे पिता-सम मानती,
निज पितरो को जन्म-हेतु ही जानती।
और पुत्र-सम उसे समझते आर्य्य है,
सतत प्रजा-हित ध्येय उन्हे अनिवार्य है।
मै भी उनका एक प्रजाजन जब रहा,
तुम्ही कहो फिर भाग्य न क्या मेरा महा।
क्षुद्रो ने ही दिया परम-पद राज्य को,
खण्ड खण्ड कर दिया अखिल अविभाज्य को।
बन्धु! निषध का वृत्त विदित तुमको सभी,
इस शासन मे, तनिक घूम देखो अभी।
इस प्रकार सद्भाव जनो-मे भर रहे,
"मै ही नृप हूँ" राज्य यदपि नल कर रहे।
और इधर यह विदित आर्य्य नल-की कथा,
'यथा प्रजा जन, एक मनुज मै भी तथा'।
अग्रज मुझको सदा समझते प्राण-सा,
मुरझाते वे स्वय, मुझे-पा म्लान-सा।
मात - पिता गुरु मित्र, एक मेरे वही,
मेरा कुछ अस्तित्व, भिन्न उनसे नही।"

यह सब थोथा ज्ञान, न इसमे तत्त्व है,
अन्ध बधिर यह मोह, कथन नि सत्त्व है।
मानो, ऐसे भाव प्रगट करते हुए,
पुष्कर का सब धर्म-ज्ञान हरते हुए।
वह गालव कलि-रूप टहाका मारकर—
हँसे और यो-कहा, ऊपरी प्यार कर।
यह भोलापन मित्र! दया के योग्य हैं,
कहते जो तुम, राज्य ज्येष्ठ का भोग्य है।
है यह सब पाखण्ड, न इसमे सत्य है,
माता के सब एक समान अपत्य है।
रहे ज्येष्ठ क्यो-भूप, अनुज क्यो-दास है,
भूप-रचित यह सभी छद्म का पाश है।
नृप से पाकर द्रव्य, जिन्होने घर-भरे,
उन लोगो ने नियम रचे ऐसे अरे!
वही नियम बन गये लोक-में अब प्रथा,
सोच समझकर कहो, न क्या वे सब वृथा।
जितनी हो सन्तान एक माँ-की अहो!
सम-भोक्ता वे सभी न हो फिर क्यो-कहो!
भले दीन ही, मित्र! राज परिवार से,
रहते जब सब बन्धु तुल्य अधिकार से।
और एक तुम, दास बने भी तुष्ट हो,
तुमसे लक्ष्मी कहो, न फिर क्यों रुष्ट हो।
मिल जाता है राज्य न भिक्षा-मे कही,
शक्तिमान ही सदा भोगते है मही।
तुम्ही कहो, हाँ, हीन-वस्तु यदि राज्य है,
है न भोग्य की वस्तु, तृणो-सा त्याज्य है।
होती फिर क्यो क्रान्ति उसी-के अर्थ ही,
बहता उसके लिए रक्त क्यो-व्यर्थ ही।

भावुकता यह निरी, इसे तुम छोड दो,
ये नर-कृत दुर्नियम इन्हे अब तोड दो।
कायरता यह छोड उठो, अब हो खडे,
यत्नो से ही काम सदा बनते बडे।
बस तुम 'हाँ' भर कहो, कार्य फिर सिद्ध हो,
अनायास ही सखे! लक्ष्य यह विद्ध हो।
एक युक्ति मै, तुम्हे बता-दूँगा अभी,
पा जाओगे राज्य, निषध का सहज ही।
तनिक क्रुद्ध-हो और मित्र को डाटकर,
बोले-पुष्कर, बात बीच-मे काटकर।
पाप शान्त! यो वचन न फिर कहना कभी,
विष-सी कटु यह लगी मुझे शिक्षा सभी।
निर्माता जो आर्य्य-सभ्यता के रहे,
जिनके वचन प्रकाश विश्व-को दे रहे।
उन पर भी आक्षेप अभी तुम कर चुके,
करके तर्क वितर्क मित्र! यो-बेतुके।
समझ रहे सुख-मूल, अरे! तुम राज्य को,
इसीलिए सिर चढा रहे उस त्याज्य को।
देव देव-ही, दनुज दनुज-ही ज्यो रहे,
ज्येष्ठ ज्येष्ठ-हो, अनुज अनुज ही त्यो-रहे।
कार्य्य-कुशलता, धैर्य, प्रशस्त-गुणावली,
अनुभव या गाम्भीर्य, सौम्यता की स्थली।
अग्रज में ज्यो-रहे, अनुज में त्यों नही,
मिल जावे अपवाद भले इसका कही।
तुच्छ राज्य-का तुम्ही कहो, मै क्या-करूँ,
हीन-वस्तु के लिए परस्पर लड-मरूँ।
क्या-जानो तुम प्रथा, उच्च-कुल की अरे!
इसीलिए कह रहे वचन यों-विष-भरे।

हुए नलानुज मौन, प्रगट कर भाव यों,
गालव भी फिर लगे चलाने दाव यो।
हो जावे प्रण पूर्ण, इष्ट यह था उसे,
भैमी-व्रत हो भङ्ग, विपद में वह फँसे।
"कहते हो सब ठीक यदपि युवराज तुम,
करते हो पर, अपना आप अकाज तुम।
जन-मन-रञ्जन शक्ति, आप मे है नही,
सत्य कहेगा कौन ! सखे ! इसको कही।
यह जन-कृत दुर्नियम, कि अग्रज नृप बने,
क्या-इससे अधिकार न अनुजो के छिने।
घाटे-में ही रहे अनुज इस रीति-से,
कह न सके कुछ नियम-भग की भीति-से।
देवो तक ने राज्य - सम्पदा के लिये,
शोणित नद बहु बार प्रवाहित हैं किये।
किये घोर अन्याय और छल-छिद्र भी,
रचे बडे दुरुपाय, रहे उन्निन्द्र भी !
कलाकार कर सके ! पूर्त्ति इसकी नहीं,
रच न सकी है कला, मूर्त्ति इसकी कही।
राज्य-मूर्त्ति बन सकी, दुधारी धार-पर,
बडी हुई यह रक्त-सिन्धु को पार कर।
अत सखे ! यह राज्य वीर का भोग्य है,
वीर विनिर्मित मूर्त्ति उसी के योग्य है।
विप्र-वृत्ति को समझ रहे निज कर्म तुम,
भूल रहे हो मित्र ! क्षत्र का धर्म तुम।
होती यदि यो हानि अकेले आप की,
तो भी थी यह बात न कुछ सन्ताप की।
एक तुम्हारी भूल, पिसे सन्तान भी,
अब जो है फिर वह न रहेगा मान भी।

यदपि तुम्हारी स्त्री कुछ भी कहती नही,
पर, क्या-वह कुछ मनस्ताप सहती नही।
पत्नि तुम्हारी बनी, न क्यो, नल की बनी,
क्यो, दमयन्ती भाग्यवती उससे घनी।
निषध प्रजा की आज महारानी वही,
उस जैसी तो सुखी न इन्द्राणी रही।
सचमुच तुमसे आज प्रेम वह कर रही,
नल दम्पति-सा प्रेम किन्तु क्या-है वही।
सत्कुलजा का मौन कभी टूटा नही,
पर, उनसे धन-मोह कभी छूटा नही।
जिस दिन बन सम्राट, मुकुट सिर-पर धरो,
पत्नी-पर दृग-पात प्रेम पूरित करो।
सार्थक समझे तभी न क्या-वह आप को,
और करेगी दूर हृदय-के ताप को।
देगी तुम पर वार स्वय को वह तभी,
पाओगे वह प्रेम, न जो पाया अभी।
अत स्वहित को सोच, बात मेरी सुनो,
वैसे तुम स्वच्छन्द, कि कुछ भी पथ चुनो।
कुलाङ्गना यदि कही लाज को त्याग-दे,
उसी लाज को वार-वधू अनुराग दे।
नृप-कुल मे हो जन्म और सन्तोष हो,
कही विप्र मे असन्तोष का दोष हो।
कर्त्ता-को ये कार्य, नष्ट करते स्वयम्,
पाकर कष्ट अनन्त, सभी मरते स्वयम्।
भावुकता मे मित्र, न तुम ऐसे बहो,
सोचो, समझो और सुदृढ़ गिरि सम रहो।
निस्पृह-हित ही राज्य-वस्तु वैराग्य की,
क्षत्रिय हित यह कहाँ सम्पदा त्याग-की।

दानव, मानव, देव, सभी इस पर मरे,
अगणित-जन, अवलम्ब इसी का पा-तरे।
तिल-भर-भू-हित बन्धु, बन्धु को काटते,
बन्धु-रक्त को खडग बन्धु के चाटते।
पट जाता मैदान शवो-से, रण छिडे,
राज्य-हेतु ही पुत्र, पिता से भी भिड़े।
राज्य-हेतु ही नदी रक्त की बह चले,
राज्य-हेतु ही मित्र, मित्र को भी छले।
समझो राजकुमार विचारो, चित्त मे,
भव का सारा विभव निहित है वित्त मे।
वसुन्धरा का भोग्य-स्वादु तुम जानते,
तो, फिर ऐसी हठ न वृथा यह ठानते।
पृथ्वी-पति बन करो, सुखो का भोग तुम,
थोथे ज्ञानी बन न तजो, यह योग तुम।
ऐसी तुम्हे सु-युक्ति बताऊँगा अभी,
लगे न जिससे दोष तुम्हे कोई कभी।
इङ्गित पर यह निषध तुम्हारे चल पडे,
निषधराज सब कहे तुम्हे छोटे बड़े।
चूमे पद यह प्रजा कमल-सम मानकर,
वसुन्धरा हो धन्य, तुम्हे पति जानकर।
सम्राज्ञी का पद अ-पूर्व जब पायगी,
तभी कुमुदनी शची-तुल्य हो जायगी।
यदि दो दिन के लिए कही इस कृत्य-मे—
आ - जायँ दुर्भाव, मित्र या भृत्य-मे।
आजावेगी शक्ति, किन्तु जब हाथ मे,
सहसा ही हो जाय प्रजा तब साथ मे।
दुष्टों का कर दमन, सुजन का मान-कर,
अधिकारी को और उच्च-पद दान कर।

नृप-बन ऐसे कार्य जहाँ तुमने किये,
सभी समर्थक शीघ्र वहाँ तुमने किये।
कूट नीति छल छिद्र और कुछ शक्ति भी,
विश्वासाविश्वास कही कुछ भक्ति भी।
फलती यह साम्राज्य-वेलि सब फलकर,
छोडो मत अब स्वर्ण-योग तुम भूलकर।
राज्य-मूल्य यदि कुछ न सखे! होता कही,
तो, तदर्थ सुर-वर्ग धैर्य खोता नही।
ठने समर दिन-रात, सुरासुर रत-हुए,
एतदर्थ प्रभु क्या न महाभारत हुए।
है यद्यपि यह कृत्य नही जन-पूत का,
पर, भूपति को व्यसन लगा है द्यूत का।
मै हूँ अति निष्णात खेल मे अक्ष के,
क्षण-भर मे धन-धाम हरूँ अति-दक्ष के।
कैसा भी हो कुशल प्रतिद्वन्दी कही,
मेरे सम्मुख किन्तु जीत सकता नही।
कपट-पूर्ण यों-अक्ष विनिर्मित मै करूँ,
भूपति का साम्राज्य एक क्षण-मे हरूँ।
माँगोगे जो दाव मित्र! पाओ वही,
जान सकेगा भेद न कोई भी सही।
भूप-बुद्धि पर घोर-तिमिर छा-जायगा,
तनिक न शोणित बहे, राज्य आ-जायगा।
मित्र! शान्ति से पूर्ण क्रान्ति हो जायगी,
जो-कि! तुम्हारा दास्य-भाव धो जायगी।
दुर्हित मेरा कभी न भूपति ने किया,
फिर भी यह सब भेद तुम्हे मैने दिया।
सोचो यह क्यो किया, मित्र - प्रेमार्थ ही,
केवल अपने पूज्य-सखा क्षेमार्थ-ही।

अस्वीकृत है, या समोद स्वीकार है,
यह सब तो युवराज ! तुम्हे अधिकार है।
एक ओर है स्वर्ग, उधर रौरव विकट,
इधर दासता और उधर प्रभुता-मुकुट।
जँचे तुम्हे जो श्रेष्ठ मार्ग चुनलो वही,
जिससे हो कल्याण, भाव गुन लो वही।
करता हूँ मै विनति यही भगवान की,
वह तुमको दे बुद्धि, हिताहित ज्ञान की।
सभा-मध्य हो भूप, सभासद हो सभी—
कल तुम उनको पहुँच चुनौती दो तभी।
समझाये वे तुम्हे, न तब तुम मानना,
क्षण-भर मे बस कार्य-सिद्ध फिर जानना।
द्यूत-खिलारी-पूर्ण-दक्ष कोई कही—
करता अस्वीकार चुनौती को नही।
जो जीते वह राज्य करे पण हो यही,
विजित पक्ष वनवास-त्रास भोगे सही।
गालव चुप हो गये व्यक्त कर निज कला,
गुञ्जारित हो कक्ष, समर्थन कर चला।
सुन, पुष्कर हतबोध-हुए विष-जुष्ट-से,
गालव से उपदिष्ट, बने वे दुष्ट-से।
पुष्कर के हर शील सुमति सौजन्य भी,
गालव तो शयनार्थ गये निज गृह तभी।
उन्नत-भाव-विनाश हेतु दुर्मन्त्र यो—
दुरभिसन्धिमय रचा देख षडयन्त्र यो—
छिपे लाज से अर्ध-इन्दु पाकर व्यथा,
तिमिर पटल-परिपूर्ण हुई रजनी तथा।
लेटे थे युवराज नीद आई नही,
रहे रात भर विकल, चैन पाई नही।

कभी विजित सद्भाव, कभी था जीतता,
पल पल भी युग-तुल्य उन्हे था बीतता।
गूज रहे थे वचन, मित्र के कान मे,
घिर घिर आती रही बात वे ध्यान मे।
उनके मन-मे भाव यही थे भर रहे,
गूज कक्ष नभ-दिशा यही रव कर रहे।
राज्य-मूल्य यदि सखे ! न कुछ होता कही,
तो, तदर्थ सुर-वर्ग धैर्य खोता नही।
कहता यह ही वायु, दिशा कहती यही—
शक्तिमान ही सदा भोगते है मही।
राज्य-सभा जुड रही, सभासद है जहाँ,
नृप बनकर वे स्वय निरापद है वहाँ।
रत्न-जटित-सिर मुकुट, चन्द्र - से तुल रहे,
छत्र-दण्ड थे तने, चौर थे ढुल रहे।
नम्र-शान्त-नत लोग उपस्थित है वही,
मानो, सब सुर-भोग उपस्थित है वही।
पदवी उनको प्राप्त हुई निषधेश की,
जोह रहे सब विनत बाट आदेश की।
उधर दर्पिता प्रिया राजरानी हुई,
देती है गल - बाँह सुधा-सानी हुई।
रोम रोम-मे भाग्य-गर्व है भर रहा,
स्व-पति-भाग्य अनुभूति हृदय है कर रहा।
ये ही कल्पित दृश्य दृष्टि-मे झूलते—
रहे रात भर, जिन्हे न पल भर भूलते।
गालव रोपित बीज, वृक्ष बन छा-गया,
प्रातः तक फल फूल सभी ज्यो पा-गया।
छाया से अभिभूत नलानुज हो गये,
संयम, साधु-विचार, शील, सब सो गये।

प्रात तक हो गया सुदृढ निश्चय यही,
गालव ने जो कहा—करूँगा मै वही।
अपना निश्चय कहा-बुलाकर जब उन्हें,
कलि विहँसा, सद्-ज्ञान भुलाकर तब उन्हे।
सज्जित हो ले छद्म-अक्ष निज हाथ वे,
राजसभा मे गये मित्र के साथ वे।
पुष्कर का व्यवहार देख उस दिन वहाँ,
जडवत् सब रह गये जहाँ के ही तहाँ।
उद्धत होकर वचन नृपति से यों कहे,
सुन जिनको नृप स्वयं स्तब्ध से ही रहे।
निषधराज के वचन आज तक मै सभी—
रहा मानता तात! की न चूँ तक कभी!
रहा सदा मै दास, पिता माना तुम्हे,
हाँ-अपना सर्वस्व, एक जाना तुम्हे।
छोटा हूँ मै इसीलिए यह सब हुआ,
पर, इस सबका ज्ञान मुझे है अब हुआ।
जिस माँ-से तुम हुए, अम्ब मेरी वही,
मै हूँ दास-समान, भोगते तुम मही।
भूमि-भोग का पूर्ण जानते स्वाद तुम,
दोगे मुझे न राज्य अत· अविवाद तुम।
और युद्ध यदि करूँ तुम्हारे साथ मे,
तो, जन मरे अ-दोष हमारे साथ में।
व्यर्थ चढेगा पाप, न वह पथ इष्ट है,
अत एक ही मार्ग शेष अक्लिष्ट है।
आओ हम तुम आज द्यूत खेलें स्वयम्,
फिर जिस पर जो पड़े उसे झेले स्वयम्।
आज चुनौती अटल तुम्हे मेरी यही,
जो भी जीते निषधराज्य भोगे वही।

अक्ष खेल मे रहे सुदक्ष अपार तुम,
अत चुनौती करो, अभी स्वीकार तुम।
निर्णायक हो अक्ष कि राजा कौन हो,
पुष्कर यो कह वचन, खड़े थे मौन हो।
ऐसा दुर्व्यवहार अनुज-का देखकर,
और पूर्ण उद्दण्ड उसे उल्लेख कर।
कुछ विस्मित कुछ क्रुद्ध, वचन-नृप ने कहे—
वत्स ! भद्रता कहाँ-गई, क्या - कह रहे।
क्या-कुछ तुमसे आज किसी ने कह दिया,
या धोखे से बन्धु ! कही कुछ है पिया।
हो विक्षिप्त-समान ज्ञान खोकर सभी,
किया राज-अपमान, मत्त होकर अभी।
सग-दोष ने तुम्हे कही क्या-है छला,
राज्य तुम्हारे लिए, मुझे क्या-है भला।
अपने से मै भिन्न न तुमको जानता,
प्राण-तुल्य प्रिय अनुज तुम्हे मै मानता।
जब तक कर-मे धनुष, बन्धु ! जानो सही,
दे सकता हूँ जीत तुम्हें सारी मही।
तुम पर यह साम्राज्य सभी मै वार - दूँ,
चाहो तो यह प्राण अभी उपहार - दूँ।
किन्तु सभी ने बुरा कहा है द्यूत को,
अत न छेडो अनुज ! प्रसग अपूत को।
केवल फलता द्यूत-वृक्ष फल नाश - का,
इसमे कहाँ विकास, पन्थ यह ह्रास - का।
माना मैने, है कि एक वह भी कला,
किन्तु यही तक - कि हो मनोरञ्जन भला।
निद्य वस्तु यह रही, लक्ष्य ठगना जहाँ,
ठगने से तो श्रेष्ठ, ठगे जाना यहाँ।

मृत्यु, नाश, अपमान, विजित का मूल्य है,
जेता भी हाँ-स्वय विजित के तुल्य है।
अश्रम धन हो प्राप्त, व्यसन घेरे उसे,
और दूर से रोग-शोक हेरे उसे।
बन्धु ! अभी तुम द्यूत-चुनौती दे - चुके,
सिहासन-अपमान-दोष, सिर ले - चुके।
वापस ले लो, अत चुनौती तुम सभी,
सिहासन से पुन क्षमा माँगो अभी।
प्रथम-दोष है अत क्षमा मिल जायगी,
और नही तो, दण्ड-धरा हिल जायगी।
भूपति को मिल जाय चुनौती यदि कही,
कर ले उसको सहन विवश, वह नृप नही।
अच्छा-हो, वह राज्य-चिह्न-सब छोड़ दे,
जटा धार कर, प्रेम अनल-से जोड दे।
चित्र-लिखित से सभी सभासद सुन-रहे,
मन ही मन परिणाम दुखद थे गुन-रहे।
पुष्कर की यह बुरी लगी अनरीति - सी,
राज्य अहित से भरी हृदय-मे भीति-सी।
भूपति के सुन प्रीति-वचन, उपदेश भी,
हिले न पुष्कर कहे हुए से लेश भी।
दीख रही थी आज उसे निश्शक जय,
दुहराई फिर वही चुनौती हो अभय।
नृप ने सोचा, इसे ध्यान क्या-हो गया,
पाप-पक से लिप्त ज्ञान क्या-सो गया।
कहे अनुज से विविध वचन फिर प्रीति के,
और दिये भय चन्द्र-वश की रीति के।
साम-दाम या दण्ड भेद-की ली शरण,
पुष्कर की कर सके न पर दुर्मति-हरण।

समझा समझा, सचिव सभासद सब थके,
दिये चुनौती खडे, न पर पुष्कर झुके।
नृप-पर भी अब कलि प्रभाव होने लगा,
हुआ विवर्धित क्रोध, बोध खोने लगा।
बोले-ऐसे वचन गरज घन-घोष से—
भोगेगा अब कुफल मूर्ख ! निज दोष से।
पर, सम-धन ही पुरुष, खेल यह खेलते,
हानि लाभ, कब असम मनुज है झेलते।
मै हूँ राजा और तुच्छ है तू अरे,
मेरे जैसा बता, दाव - पर क्या-धरे।
राज-पाठ धन-धान्य लगाऊँ मै सभी,
क्या-है तेरे पास लगा, देखूँ अभी !"
है न सही वह बात कि जो मैने कही,
गालव की चल-दृष्टि जताती थी यही।
मौन खडे थे अलग, बडे निर्लेप-से,
भरा किन्तु उत्साह दृष्टि-निक्षेप से।
बोले-पुष्कर तभी क्रोध मे थे भरे,
प्रकृत बात पर भूप शीघ्र आये अरे।
तुम राजा मै तुच्छ, सत्य ही तो कहा,
पर, वह सब पाखण्ड तुम्हारा क्या-रहा।
मै यदि सम-धन नही, समस्थिति भी न क्या,
हम दोनो की याद करो ! है एक माँ।
एक वश है और रक्त भी एक है,
निषध - प्रतिष्ठा बढे, एक ही टेक है।
दोनों का अधिकार निषध पर सम रहा,
तब तुमसे मै कहो, कि कैसे ! कम-रहा।
खण्ड खण्ड कर यदि विभक्त इसको करे,
मुझे भी है न इष्ट, शक्ति इसकी हरे।

राज्य न हो निश्शक्त, पूर्ण हो इष्ट भी,
निर्णय भी हो जाय, न पथ हो क्लिष्ट भी।
यही एक है मार्ग, लगे अब पण यहाँ,
बैठे देखे सभी सचिव, गुरु-जन यहाँ।
एक ओर सब निषधराज्य-शालीनता,
और उधर वनवास, दासता-दीनता।
पण-जेता ही, अब अखण्ड निषधेश हो,
और विजित को विपिन-वास का क्लेश हो।
काटे चौदह वर्ष दास होकर कही,
जाय यहाँ से दूर, सभी खोकर यही।
एक वस्त्र, दो शस्त्र साथ ले जा-सके,
निषध-राज्य का अन्न न फिर वह खा-सके।
अवधि पूर्ण कर पुन. द्यूत खेले यहाँ,
जो जीते वह निषध-राज्य लेले यहाँ।
और विजित पूर्वोक्त नियम पालन करे,
दास बने या विपिन-वास कर दुख भरे।
आजीवन - क्रम यही चलेगा आज से,
कह पुष्कर चुप खडे अभय मृगराज से।
पुष्कर के कटु वचन लगे विष-तीर से,
लगी काँपने देह, न नृप थे धीर-से।
क्रोधित-सर्प समान उठे फुकार कर,
गरजा घायल सिह यथा हुकार भर।
दौडा मुँह पर रक्त, हुए दृग लाल से,
दीख रहे नलराज काल विकराल-से।
सन्नाटा-सा भरी सभा-मे छा-गया,
लगा सभी-को अन्त-कि मानो आ-गया।
"रे पामर। तू तनिक नही लज्जित हुआ,
डटा हुआ है अधम धूर्त ! सज्जित हुआ।

देखूँ तेरा द्यूत खिलारी तू बना,
कुछ भी रहा न ध्यान, खडा सम्मुख तना।
देख चुनौती अभी रग क्या-लायगी,
तेरी कल्पित-राज्य भित्ति ढह जायगी।
उचित तुझे था यदपि मृत्यु-उपदेश ही,
रहता तेरा किन्तु अभीप्सित शेष ही।
सुनो, सभासद, सचिव, उपस्थित जन सभी,
करता हूँ मै आज यहाँ यह प्रण अभी।
दुष्ट ! ध्यान से इधर स्वयम् तू सुन कथन,
सुने निखिल दिग्पाल सूर्य धरणी गगन।
किया हुआ प्रण यदि न पूर्ण मै कर सकूँ,
तो, निज पापी देह न क्षण-भर धर-सकूँ।
मिले न मुझको सु-गति, पाप सिर पर धरूँ,
अपना ही यश स्वय अयश बनकर हरूँ,
हो बस बाजी एक उसी पर निज-सभी——
राज्य-विभव धन-धान्य लगाता हूँ अभी।
यदि परास्त मै हुआ, अभी सब छोड दूँ,
शासन से सम्बन्ध सभी निज तोड़ दूँ।
करूँ चतुर्दश वर्ष विपिन मे वास मै,
या, होकर ही रहूँ किसी का दास मै।
निषध-भूमि का अन्न मुझे अग्राह्य हो,
एक वस्त्र को छोड न कुछ सग्राह्य हो।
साधु जनोचित सभी नियम पालन करूँ,
केवल निज-रक्षार्थ शस्त्र-चालन करूँ।
जेता ही हो नृपति, निषध-साम्राज्य-का,
पूर्णावधि तक भोग करे वह राज्य का।
इतना कह चुप हुए काँपते पर खडे,
दुश्शंका से भीत हुए छोटे बडे।

कलि-मुख पर मुस्कान मधुर सी आ-गई,
भरी सभा-मे इधर उदासी छा-गई।
किंकर्त्तव्यविमूढ सभी वे रह गये,
झंझानिल-सा चला, विवश सब बह गये।
मिला न कुछ अवकाश काण्ड यह रोक दे,
उन दो मे से किसी एक को टोक दें।
वज्रपात-सा हुआ अचानक ही वहाँ,
बिना घटा की वृष्टि भयानक थी जहाँ।
सँभले भी कुछ लोग पडे फिर बीच-मे,
पर, तब तक फिक चुकी ईट थी कीच मे।
तीर हाथ से निकल चुका था हाय ! अब,
चित्र बने रह गये मनुज निरुपाय सब।
भावी-नद मे विवश स्वय-को बोर यो—
सत्यव्रत कर चुके प्रतिज्ञा घोर यो।
भावी से कब कहाँ किसी का वश चले,
भावी ने ये सुजन, सौम्य, निश्छल, छले।
प्रेरित थे सचिवादि राज्य की भक्ति से,
सब ने किये सुयत्न, भरे निज शक्ति से।
गये व्यर्थ पर, द्यूत-रग प्रस्तुत हुआ,
निषध राज्य का नाश-ढग प्रस्तुत हुआ।
घर घर घूमा वृत्त, उदासी छा-गई,
अन्त पुर मे शोक निशा घिर आ-गई।
भैमी ने हो विकल कई प्रतिहारियाँ—
भेजी नृप को शीघ्र बुलाने नारियाँ।
आतुरता - वश पुरुष और भेजे कई,
लावे नृप को बुला, युक्ति कुछ कर नई।
और नागरिक चले, बहुत से दौडकर,
अपना, अपना, काम बीच मे छोड़कर।

दौडा हुआ समूह सभा-में जब गया,
लगा देखकर उसे, राजकुल अब गया !
क्रोधित सिह-समान क्षुब्ध दोनो जने—
सभा - मध्य उपविष्ट, आमने-सामने।
गालव थे जो कपट-अक्ष कर - मे गहे,
हाथ बढा-अब अक्ष नृपति को दे रहे।
परिणामोत्सुक सचिव आदि थे भीत से,
चाहे जिसकी रहे, खिन्न थे जीत से।
किया निवारण-यत्न उन्होने फिर वही,
किन्तु क्रोध मे कौन ! सुने किसकी कही।
हिला नृपति का हाथ, कपट पासे चले,
काँपा ऊपर गगन, हिली धरती तले।
हर्षित पुष्कर उछल पडे, नृप थे अचल,
दर्शक-तन थे सुन्न. किन्तु मन थे विकल।
"यह लो मेरी जीत, तुम्हारी हार है,
पर, मेरा तो शेष अभी तक वार है।
पुष्कर ने यो-कहा-बढा फिर कर तभी,
उठा लिये वे अक्ष कपट-पूरित सभी।
फैंके पासे, देख वेग से यो-कहा,
यह लो, मेरी जीत हुई पूरी अहा !
पुष्कर हर्षोन्मत्त हुए किलकारते,
कीलित सर्प समान नृपति सिर मारते।
पद नीचे से भूमि हाय ! हट सी गई,
क्षण मे घटना दुखद हाय ! घट सी गई।
नत आनन, दृग बन्द किये नृप सोचते,
घायल हरिण-समान, मौन ही लोचते।
सब दर्शक जड़-हुए, न कुछ भी कह सके,
छाती पर धर हाथ काण्ड यह सह सके।

फैला वृत्त, प्रकाश-तुल्य यह अनसुना,
जकड़ा-सा वह रहा विवश, जिसने सुना।
गरजे पुष्कर अभय, वचन कहने लगे,
विवश विनत हो जिन्हे नृपति सहने लगे।
बैठे हो क्यो-अचल, मोह-निद्रा हरो,
जितना भी हो शीघ्र कथन पूरा करो।
शासन से सम्बन्ध सभी निज तोड दो,
करो घोषणा, राज्य-चिह्न ये छोड़ दो।
राज्य-श्री से मोह हुआ अब व्यर्थ है,
खुला विपिन का मार्ग तुम्हारे अर्थ है।
हुए प्रकृत से भूप, शब्द जब ये सुने,
मानो था उद्‌बोध, स्वप्न-से यह उन्हे।
सत्य, धैर्य, सन्तोष, शील आदिक सभी—
गुण सहसा थे प्रगट, लुप्त जो थे अभी।
श्यामल घन-से लगे बोलने वे वहाँ,
सुधा, श्रवण मे लगे घोलने वे वहाँ।
भद्र सचिव, गुरु आदि, उपस्थित जन सभी,
निश्छल यह घोषणा सुनो, मेरी अभी।
मै हूँ स्वस्थ नितान्त, भयादि न है मुझे,
कोई आधि-व्याधि, प्रमाद न है मुझे।
अभी अभी जो यहाँ निन्द्य घटना घटी,
अपना नाटक खेल चुकी भावी नटी।
यह न समझले आप कि मै अब लुब्ध हूँ,
किन्तु, तुम्हारे तुल्य स्वय मै क्षुब्ध हूँ।
रहते थे हम बन्धु सहोदर प्रेम-से,
करते जन कल्याण सजग नित नेम-से।
पुष्कर है अति सौम्य, सुजन निश्छल, बली,
साधु-तुल्य ही प्रकृति रही इनकी भली।

इनसे मुझको पूर्णतया परितोष है,
यह सब मेरा पाप, अनुज निर्दोष है।
इनको था आवेश, न पर मै सह सका,
प्रकृत बडा मै, किन्तु खडा कब रह सका।
इनको भी ले गिरा, सोच मुझको यही,
असित-वदन-निज भला, दिखाऊँ क्या-कही।
माँगा था यह राज्य, इन्हे देता तभी,
सन्यासी हो विपिन-मार्ग लेता तभी।
निज वशोचित कार्य वही आदर्श था,
तुम सब के ही साथ, मुझे तब हर्ष था।
घाटे मे मै था न, दूर जाता कुयश,
छुटता यह साम्राज्य, हाथ आता सुयश !
और अनुज-हित थी स्व-कृत्य की पूर्त्ति-भी,
स्वय प्राप्त थी मनस्तोष की मूर्त्ति भी।
कितना उसका श्रेष्ठ सुखद परिणाम था,
पर, क्यो होता सुखद. जब कि विधि वाम था।
निन्दा थी जो भाग्य-लिखी, आती सही,
विधि की वह लिपि अमिट,न मिट पाती कही।
वीरसेन का पुत्र, जुआरी था बडा,
अब तो जन-रव यही हाय ! हाथो-पड़ा।
मुझ-पर था जो, आज अनुज पर भार वह,
करते मुझसे अधिक प्रजा-से प्यार यह।
आया गया न राज्य, वहाँ का है वही,
किन्तु, अमर लोकोक्ति हुई अब तो यही।
जिता दिया था राज्य कि धर कर दाव पर,
थूकेगा जग हाय ! हमारे भाव पर।
पर, अब क्या-हो सके हुआ सो हो गया,
मिली मुझे अपकीर्त्ति, पुण्य सब धो गया।

महापाप यह एक हाय ! मै कर चुका,
प्रजा-धरोहर-राज्य, दाव पर धर चुका।
था यह अनुचित लाभ तुम्हारे प्यार का,
दुरुपयोग कर चुका, शुद्ध अधिकार का।
किन्तु, अनुज-मे मुझे पूर्ण विश्वास है,
यह मुझसे भी अधिक प्रजा-का दास है।
पूर्ण सुरक्षित राज्य, बन्धु के कर-तले,
धरणी दे धन धान्य, प्रजा फूले फले।
मुझे यही सन्तोष और तुम भी करो,
देकर मुझको क्षमा, सोच अपना हरो।
ये ही अब से निषधराज कहलायँगे,
न्याय इन्ही से सभी प्रजाजन पायँगे।
रखना मिलकर निषध-प्रतिष्ठा ध्यान तुम,
जन्म-भूमि का बन्धु ! बढाना मान तुम।
इसका सकट, गर्व मानकर तुम हरो,
इसके रीते कोष प्राण देकर भरो।
हँस हँस इस पर बन्धु ! शीस देना चढा,
गिरे एक जन जहाँ, अन्य जन हो बढा।
यह चन्द्राङ्कित ध्वजा, सदा लहरा करे,
नभ-मे रह अपभीत सजग फहरा करे।
मै तो अब जा रहा, स्व-प्रण अनुसार ही,
होगा अब अवलम्ब तुम्हारा प्यार ही।
जाऊँगा अब कहाँ, न यह मै जानता,
पर, सच समझो, सोच न अब मै मानता।
है यह मेरी विनय न मुझको रोकना,
जो कुछ भी मै करूँ, न कृपया टोकना।
राजा हो या प्रजा, नियम सब के लिये,
भोगे सभी अवश्य, कर्म जैसे किये।

जो कुछ मैने किया मुझे भरना पडे,
किन्तु जानले यहाँ सभी छोटे बडे।
जो भी सिर पड जाय, स-मुद सब झेलना,
निन्द्य खेल पर द्यूत, भूल मत खेलना।
राजा को भी क्षमा न जब इसने किया,
देख रहे तुम कुफल स्वय इसका दिया।
जन-साधारण इसे सहन फिर क्या-करे,
इसका दुष्परिणाम वहन फिर क्या-करे।
सोचे समझे प्रजा, पाठ इससे पढे,
कोई भी अब भूल, न इस पथ पर बढ़े।
मुझसे ही आलोक विश्व पा जायगा,
अतुल कुलो का नाश न होने पायगा।
तो, मेरा यह पाप, पुण्यवत् हो सभी,
हूँगा मै अति धन्य, कलुष गत हो सभी !
भूलूँ तुमको मै न, रहूँ चाहे जहाँ,
भूल न जाना बन्धु ! मुझे तुम भी यहाँ।
दरस-परस फिर करूँ अवधि को पूर्ण कर,
दो मुझको आशीष बन्धु ! अब विघ्न-हर।
बीत रहा है काल, न अब है कल मुझे,
बरसो-सा लग रहा, आज पल, पल, मुझे।
मातृ-भूमि का स्मरण, क्लान्ति देगा मुझे,
पर, तुम सब का प्यार शान्ति देगा मुझे।
अग्रज हूँ मै अत अनुज का भी किया—
भोगूँगा स्वयमेव यही कहता हिया।
राज्य करे ये, इन्हे सभी सुख प्राप्त हो,
मुझे अन्न अग्राह्य निषध का अब अहो !
सीमा है अति दूर लगेगा बहु समय,
है हाँ, मेरी एक और लघु-सी विनय।

अन्त पुर मे है निषिद्ध जाना मुझे,
भैमी-दर्शन सुलभ न यो-पाना मुझे।
प्रतिहारी ! तुम कहो वहाँ जाकर अभी,
क्षमा करे वे मुझे, भूल दुष्कृत सभी।
रहे हर्ष-से सदा यही सन्तानयुत,
धरे धर्म-का ध्यान सदा सम्मानयुत।
यह लो, कह झट मुकुट, अनुज सिर पर धरा,
वाष्पो से नृप-कण्ठ अचानक अब भरा।
रोते थे सब वहाँ मनुज जो सुन-रहे,
विकल अधोमुख सचिव आदि सिर धुन-रहे।
वस्त्राभूषण नृप उतार-कर धर रहे,
रोकर साग्रह मनुज, निवारण कर रहे।
"जाने देगे तुम्हे न हम हे नृप ! कही,
राज्य छोड दो, किन्तु रहो हम-मे यही।
विलख, विलख कह रहे, खडे थे जन अडे,
करते थे प्रतिरोध, पकड कर जन बडे।
हिला सके पर तनिक न प्रण से धीर को,
मिल कर भी सब रोक न पाये वीर को।
सत्यव्रत की एक उक्ति तब थी यही,
'कथन करूँगा पूर्ण' युक्ति तब थी यही।
रहा एक ही वस्त्र, उतारे और सब,
राज्य-चिन्ह कर अलग धरे उस ओर तब।
पर, कोलाहल हुआ तभी यह क्या-अरे,
सभी देखते मनुज उधर विस्मय-भरे।
ऊषा-सी तब वहाँ भीमजा आ-रही,
निविड तमी को. इन्दु-किरण या पा रही।
हुआ चन्द्रमुख विनत, प्रभा यो-छूटती,
नभोमध्य तारिका सहज ज्यो टूटती।

उसे देखकर सभा-शोक, अपहृत हुआ,
फैला दिव्य प्रकाश, तिमिर ज्यों गत हुआ।
अचल-मूर्त्ति जन उसे देखते ही रहे,
रूप-सुधा अनिमेष नेत्र थे पी-रहे।
वस्त्रावृत थे अङ्ग, कान्ति थी फूटती,
पुष्पो-मे से गन्ध गमक ज्यों छूटती।
मिलता था पथ धन्य, मानकर आप-को,
भूल रहे थे सभी, उपस्थित ताप-को।
सहकर अपना भार न, वह कुछ थी झुकी—
हेमलता सी पहुँच निकट नृप के रुकी।

जो कुछ बीता यहाँ सभा-मे था अभी,
समाचार सुन चुकी प्रथम ही वह सभी।
अन्त पुर मे मचा पूर्ण आक्रोश था,
थे सब रोदन-व्यस्त, किसे ' तब होश था।
था ध्रुव निश्चय उसे, अटल प्रण है सभी,
वीरो के व्रत भग हुए हैं क्या-कभी।
यही सोचकर और धैर्य को धारकर,
अब वह उद्यत हुई, शोक-नद पार कर।
पा भैमी-आदेश, दिव्य-सा रथ जुता,
इन्द्रसेन निज पुत्र, इन्द्रसेना सुता—
रथ-मे बैठा भेज दिये, मानस भिदा,
आतुरता-की शोक-पूर्ण यह थी विदा।
कुण्डिनपुर ही बना उन्हे अब ध्येय था,
गई केशिनी साथ, सूत वार्ष्णेय था।
जो कुछ भी यह हुआ, न था सब व्यर्थ ही,
निज को प्रस्तुत किया दुखो के अर्थ ही।

उनको चलते देख भीमजा, रो पडी,
मुक्ताओ-सी लगी, कपोलो-पर झडी।
रोते रोते, लिपट गोद मे वे भरे,
हृदय-खण्ड-से, खण्डहृदय पर थे धरे।
और कहा-मुँह पोंछ, वत्स ! जाओ अभी,
शतं जीव ! भव-विभव सौख्य पाओ सभी।
घहर रहा है यहॉ, दुखो-का सिन्धु-सा,
जाने, कब मुख देख सकूगी इन्दु-सा।
रोक रहा कर्त्तव्य मुझे निज स्नेह भी,
जहॉ प्राण, यह वही रहेगी देह भी।
मै पति-पद-अनुगता न दुख से भय मुझे,
प्राण-पदो मे प्राप्त सदा है जय मुझे।
तुमको रखकर साथ, न रहती साथ मै,
होती तब हा-स्वार्थ ! सनाथ, अनाथ मै।
बनी हुई वे स्वय समूर्त्त उदासियॉ—
हटा रही थी उन्हे पकड़कर दासियॉ।
आवश्यक आदेश सामयिक ले कई,
बच्चों को ले आर्त्त केशिनी थी गई।
लिये अपरिमित-भार दौडते वाण-से,
वही अश्व बढ रहे आज निष्प्राण से।
घूमी जब भीमजा, पोछकर नेत्र-जल,
दीख पडा यह तभी उन्हे मुरझा-कमल।
साश्रुवदन शोकार्त्त कुमुदनी थी खडी,
सोदक पकज तुल्य किये ऑखे बडी।
रोकर बोली—हाय ! हुआ यह बहन ! क्या,
अपने हाथो हुआ स्व-कुल का दहन क्या।
आकस्मिक यह हुआ अभागा क्यो-अरी !
डूब-रही मँझधार हमारी क्यो-तरी।

जाने दूँगी तुम्हे न मै, गृह त्याग कर,
जीयेगी हम युगल, एक के भाग पर।
वे भाई कुछ करे किन्तु, हम बहन है,
एक भाग के भोग, हमे सम सहन है।
ठान चुको जो आप, जानती हूँ सभी,
बहन ! तुम्हारा धर्म मानती हूँ सभी।
ठहरो, यह दुख-घटा स्वय फट जायगी,
दुर्घटना जो घटी, अभी हट जायगी।
आया जितना शीघ्र, दोष कुल मे यही,
उतना ही यह शीघ्र हटे जानो सही।"
"बहन ! मुझे परितोष तुम्हारी ओर से,
पर, मै अब घिर चुकी विपद घन-घोर से।
यह न किसी का दोष, भाग्य का ही कहो,
जाओ, धीरज धरो, प्रिये ! सुख से रहो।
है न मुझे अवकाश, अधिक अब क्या-कहूँ,
दुख को उनके साथ, समझ सुख-सा रहूँ।
कह इतना वह और सभी को दग कर,
राज-सभा मे गई नियम को भग कर।
रोक रही थी उन्हे, रुदित दासी भली,
किन्तु न पाई रोक, स्वय खिच सी चली।
जिस घर-मे भी विपद-पाद पडते महा,
उनका प्रथम प्रहार नारियो-पर रहा।
शोकोदक से पूर्ण घटा-सी वह चली,
लिए चले सकल्प, वायु बनकर बली।
नृप-गिरि से ज्यो सभा-मध्य टकरा-पडी,
रुका वेग तब नही, लगी अविरल-झडी।
आँखो ही से कहा नाथ ! क्या-कर चुके,
कुल-की धवल सु-कीर्त्ति स्वय ही हर चुके।

एक वस्त्र को धार नृपति आसीन थे,
राज्य-हीन थे यदपि, तथापि अदीन थे।
राज्य-चिन्ह से हीन, कान्ति फिर भी वही,
गरज रहा दुख-सिन्धु, शान्ति स्थिर थी वही।
सम्राज्ञी को देख, वदन निज नत किया,
मानो, निज अपराध स्वय स्वीकृत किया।
"उठो नाथ ! यह सोच, न तुमको सोहता,
विपिन-वास अब मार्ग हमारा जोहता।
जो कुछ भी हो गया, जान मै सब चुकी,
होना था अनिवार्य, मान मै सब चुकी।
पश्चात्ताप परन्तु रहेगा यह मुझे,
आजीवन सन्ताप दहेगा यह मुझे।
क्यो, न समय से पूर्व यहाँ मै आ-सकी,
निकल गई वह घडी, न उसको पा-सकी।
गुरु-जन और अमात्य, सभासद सब यहाँ,
सुजनोचित-गुण-वारि-पूर्ण-नद अब यहाँ।
सब के रहते हुआ यहाँ दुष्कर्म है,
पूछ रही मै, यह क्या-इनका धर्म है।
देवर को यदि हुआ राज्य से स्नेह था,
आर्य्यपुत्र - मे हुआ इन्हे सन्देह था।
माँगा आकर मुकुट, इन्हे थी यन्त्रणा,
क्यो-न सभा ने तभी उचित दी मन्त्रणा।
छोटो का अपराध सर्वदा क्षम्य है,
और बडो-का मार्ग, महा-दुर्गम्य है।
क्यो-न इन्हे यह राज्य दिया तब प्रीति-से,
बचा न पाई सभा, तुम्हे अनरीति-से।
देवर ! तुम तो कहो, हुआ क्या-ध्यान यह,
गया अचानक कहाँ तुम्हारा ज्ञान वह।

हुआ तुम्हारा अहित न कुछ मुझसे कही,
भाभी-से भी कहा-अभीप्सित क्यो-नही।
तात ! एक क्या-निषध यहाँ तुम पर तभी—
वारा जाता राज्य महान् विदर्भ भी।
पर, तुम सब निर्दोष, धवल-गिरि सम-सुयश,
आई मै ही यहाँ मूर्त्त होकर कु-यश।
मैने ही था देव-वर्ग क्रोधित किया,
आज उसी ने पूर्व वैर शोधित किया।
शुभ-मति पर जो आज तिमिर यह छा-गया,
सत्कुल मे अपकीर्त्ति-दोष यह आ-गया।
किन्तु जानले देव, और सुनले सभी,
निश्चित-पथ से विरत न मै हूँगी कभी।
देवो-का वरदान तुल्य, अभिशाप भी,
होता स्वय अनन्त, दुरन्त विताप भी।
अत अभी दुख-अचल सामने शेष है,
उसी अचल का, राज्य-गमन तो लेश है।
उद्यत हूँ मै, उसे काटने के लिए,
पथ-मे फैले शूल छाँटने के लिए।
चलो नाथ ! अब राम जहाँ भी ले चले,
देवर का यह राज्य, इन्हे फूले फले।
शिशु तो गये विदर्भ, केशिनी भी गई,
तरु-तल की चल रचो राजधानी नई।"
"जाता हूँ मै स्वय देवि ! तुम बस रहो,
मै तो बह ही गया, न अब तुम तो बहो।
नैषधलक्ष्मी ! करो राज-सुख भोग तुम,
वैदर्भी हो, नही विपिन के योग्य तुम।
अपना व्रत मै स्वय सुमुखि ! पूरा करूँ,
जो कुछ मैने किया, उसे मै ही भरूँ।"

"प्राण जाय रह देह, न यह होगा कभी,
जो कुछ है अनिवार्य, वही होगा अभी।
पुष्कर पर फिर दृष्टि मृगी-सी डाल कर,
बोली-शोकावेग सयत्न सँभाल कर।
राज्य करो सम्राट्! हमे अब दो विदा,
पर, ऐं! यह तो अभी तुम्हारी सम्पदा—
पहने हूँ आभरण, वस्त्र बहु-मूल्य भी,
है अभीष्ट बस एक वस्त्र, प्रिय-तुल्य ही।
इतना कह आभरण भिन्न करने लगी,
या-वे दर्शक-हृदय छिन्न करने लगी।
पुष्कर नत-मुख मौन, वज्र-आसीन थे,
मानों, जिह्वा थी न, हृदय-से हीन थे।
कलि का पूर्ण प्रभाव, किये अवरोध था,
क्या-कुछ यह हो रहा, न इसका बोध था।
और सभी अति खिन्न, छिन्न से हो रहे,
झर झर पड़ते अश्रु, कलप कर रो रहे।
कोस रहे थे सिसक सभी, गत-काल को,
ठोंक रहे थे विलख विलख हत-भाल को।
यदपि जानते सभी वन्द्य पति-भक्ति को,
रोक रहे कर-बद्ध, तदपि उस शक्ति-को।
"मत जाओ हे देवि! न नृप भी जायँगे,
राज्य गया ही कहाँ, न जिसको पायँगे।
देगें तुम पर वार निषध शत शत हमी,
पूजे नित उठ तुम्हे यहाँ हो नत हमी।
यदि देवी तुम गई, यहाँ फिर क्या-रहा,
ध्यान ज्ञान सम्मान हमारा सब बहा।
वन-मे यदि तुम गये साथ हम जायँगे,
बिना तुम्हारे नेत्र चैन कब पायँगे।

हम पर जो धन धान्य चलाचल मान भी—
पद पद्मार्पित आज तुम्हारे प्राण-भी।"
"रोको मुझे न भद्र! न अब रहना मुझे,
सम्राज्ञी रुक जायँ, यही कहना मुझे।"
"तुम जाओ मै रहूँ! न पथ च्युत हो सकूँ,
यह मेरा साम्राज्य न इसको खो-सकूँ।"
निर्भूषण थी वस्त्र-मात्र तन पर रहा,
किन्तु, पूर्ण साम्राज्य अटल मन पर रहा।
सब ने निज कर्त्तव्य उचित पूरे किये,
पर, वे समझा बुझा सभी को चल दिये।
तीर्थों का जल-मात्र, साथ दो शस्त्र थे,
और, देह पर वही मात्र दो वस्त्र थे।
नृप साधक बन चले, सिद्धि वह हाथ थी,
राज्य गया पर राज्य सुलक्ष्मी साथ थी।
विवश प्रजा रो-रही पथो-मे थी डटी,
"हाय राम! क्यो आज न यह धरती फटी।"
पुष्कर ही थे राजसभा मे बस वहाँ,
मूर्त्तिमान था स्वयम् कि असमञ्जस वहाँ।
रोते धोते छोड, सभी-को वे गये,
हँसी खुशी भी-साथ निषध-की ले गये।

निषध रहा निर्जीव-ही, निकल चुके थे प्राण,
पर, कलि-मुख पर वह उधर छिटक गई मुस्कान।

दशम सर्ग

जाते थे वे चले, विपिन-कष्टो-को सहते,
किन्तु न अपना दुख दूसरे से थे कहते।
गगन-स्पर्शी निकल चुके सुनिकेत सभी वे,
छूट चुके धन-धान्य-पूर्ण अब खेत सभी वे।
उनका तो बस ध्यान, पाप-प्रक्षालन मे था,
सत्य-व्रत का मान, पूर्ण व्रत-पालन मे था।
थी वह राज्य-समृद्धि, न पर उनका मन हरती,
तपोधनो-से अटक सके है कब! धन धरती।
पडती ऊपर धूप, जलाता जल कर भूतल,
यात्रा से परिश्रान्त, क्षुधा भी करती व्याकुल!
चुभते पद-मे शूल, हूल-सी उठती मन-मे,
बदल रही थी रग प्रकृति अपना क्षण-क्षण मे।
यहाँ धूप तप-रही, वहाँ छाया आ-जाती,
इधर ठड लग-रही, उष्णता उधर सताती।
थककर जाते बैठ और फिर उठकर चलते,
चलना पडता विवश यदपि थे पाद मचलते।
तीर्थों का जल-मात्र, साथ का ही पी पीकर,
जाते थे वे बढे, भाग्य-वश ही जो जीकर।
वैदर्भी की दशा लेखनी, लिख न सकेगी,
धर ले लक्षो-रूप अभागी, तदपि थकेगी।
मुरझायी-सी लता हाय! पाला था छाया,
फिरे हवा-मे उडी, दिव्य वह घर की माया।
निज छाया सी हुई, पडे पैरो मे छाले,
नृप ने चाहा बहुत कि वह कुछ फल ही खाले।

पर, वह पति से पूर्व न कुछ भी खा सकती थी,
उस निरीह को देख स्वय करुणा थकती थी।
झड़ पादाबुज-राग धूलि मे मिल जाते थे,
समझ स्वय को धन्य, रजस्कण खिल जाते थे।
पद-से कटक काढ, सरल सी रो पड़ती थी,
ताप-तप्त, हिम-शिला, तरल सी हो पड़ती थी।
चलते, चलते, उन्हे कई दिन बीत चुके थे,
देह शक्ति के कोष, निरन्तर रीत चुके थे।
पथ - कष्टो - से विदलित अन्त-र्बाह्य हुआ था,
जन्म-भूमि का अन्न, उन्हे अ-ग्राह्य हुआ था।
रहा न उनको भेद, दिवस मे और निशा-मे,
बढे हुए जा-रहे, सु-लक्षित एक दिशा-मे।
वैदर्भी को आर्त्त-देख, नृप हत-से होते,
देने को अवलम्ब, घूम कुछ नत से होते।
"धरो धैर्य हे प्रिये! लक्ष्य आ-जाने को है,
वहाँ, अरण्यज भक्ष्य, कन्द-फल खाने को है।"
गति के साथ पड़ा स्वर भी भैमी-का धीमा,
"स्वामी कितनी दूर निषध-की है अब सीमा।
है क्या-कुछ यो-भक्ष्य जिसे हम खा-सकते है,
हो न निषध का, किन्तु निषध-मे पा सकते है।"
"प्रिये! आज ही हमे, और बस चलना होगा,
जठरानल से आज आज ही जलना होगा।
करके हम आखेट यदपि कुछ ला-सकते है,
और उसे खा, मुक्ति क्षुधा-से पा सकते है।
होगा पर, अन्याय वेश तापस का धरके,
क्षुधा-पूर्त्ति यो करें, जीव-हत्या हम करके।
है अवध्य निर्दोष, उन्हें हम क्यो-मारेंगे,
कर पर-देह-निपात, न हम यह तन धारेंगे।

निर्दोषो-को मार, उदर जो अपना भरते,
निद्य-कार्य, श्रम-चोर आततायी ही करते।"
"पाप शान्त हो, नाथ ! न था यह मेरा कहना,
मुझे स्व-दुख से अधिक दुखद पर-का दुख सहना।
पाद-प्राप्ति से पूर्व बहुत उपवास किये थे,
देव-मूर्त्ति के निकट जागकर वास किये थे।
और आज जब स्वय प्राप्त है ये पद मुझको,
तब देगे उपवास न ये कुछ अब गद मुझको।
किन्तु हाय ! यह चुभा शूल" रो-पडी अचानक,
मूर्च्छित होकर गिरी, दृश्य था बड़ा भयानक।
दिया नृपति ने घूम तुरन्त सहारा उसको,
आँखो-मे भर अश्रु, स-शोक निहारा उसको।
बैठ गये भर उसे गोद मे कर मुख नत-सा,
गगन-अङ्क मे लगा चन्द्रमा अस्तङ्गत-सा।
जल के छीटे दिये, हवा की व्यजनाञ्चल-से,
हुआ विगत-सा ताप, नेत्र वे खुले कमल-से।
सजग प्रिया-को देख, प्राप्त कर तरु-की छाया,
दे नृप ने बहु बोध, उठाकर उन्हे लिटाया।
"प्रिये ! कर चुकी पार निषध-सीमा-दुर्गमता,
तुम्हे धन्य, यह धन्य तुम्हारी अतुलित-क्षमता।
देखो, सम्मुख सु-मुखि ! वृक्ष छू-रहे गगन को,
करके रवि से होड दिये है छाया वन-को।
कूज-रहे है विहग, बोलते है जलचर भी,
होता है आभास वहॉ है सुन्दर सर भी।
चलकर बस अब हमे वहॉ-तक ही जाना है,
ठहर वही विश्राम प्रिये ! कुछ दिन पाना है।
आओ बैठो तुम्हे पीठ-पर अपनी ले-लूँ,
करो तनिक दृग बन्द, खेल मन्त्रो का खेलूँ।

क्षण-भर मे ही वहाँ स्वय को तब तुम पाना,
रही न तुम मे शक्ति, कठिन है वैसे जाना।"
"नाथ! पीठ पर नही, मुझे बस साथ चाहिए,
प्रिय-सबल के हेतु, स्व-सिर पर हाथ चाहिए।
ठहरो, थोडी और शक्ति सञ्चित होने दो,
निज पद-श्रम से मुझे न यो वञ्चित होने दो।
आई हूँ सेवार्थ, न भार बनूँगी स्वामी!
मधु बनकर ही रहूँ, न क्षार बनूगी स्वामी!
धीरे से यो - कहा, मूँद दृग लेट गई फिर,
बैठे थे नृप मौन, धीर मन-भी था अस्थिर।
साल रहा था उन्हे सग रानी का आना,
गुडियो का था खेल न, पूर्ण अवधि का पाना।
वर्ष चतुर्दश ओह! कष्ट प्राणान्तक नाना,
है न प्रिया के योग्य, पार उनसे पा जाना।
छाया सी है शेष, अभी कितने दिन बीते,
हुए हाय, दुर्दैव! तुम्हारे ये मनचीते।
सोच सोचकर भूप हुए थे पानी पानी,
तब तक होकर स्वस्थ तनिक, उठ बैठी रानी।
धीरे धीरे चली, स्व-पति से सबल पाती,
देखी सम्मुख झील स्वच्छ-जल से लहराती।
खिले कमल से जहाँ मुदित जलजीव सभी थे,
देख धनुर्धर वहाँ, चौक उद्ग्रीव सभी थे।
पर, नृप-शान्ति निहार उन्होने चिन्ता छोड़ी,
विस्तृत थी नभ-तुल्य झील वह लम्बी चौडी।
"धन्य सुमुखि! लो इधर निषध की सीमा जीती,
बहुत दूर प्रियतमे! यहाँ से अब वह बीती।
अब हो तुम निर्बन्ध, करो जल पान यहाँ-पर,
कितना है रमणीक सुखद यह स्थान मनोहर।

पथ श्रम को कर दूर, शक्ति भी सञ्चित करलो,
तपोव्रते ! कुछ काल यहाँ स्वच्छन्द विचरलो।
यों, कहकर नृप, कन्द मूल-फल कुछ ले आये,
कर हल्का सा स्नान उन्होने वे फल खाये।
देख स्वच्छ सी शिला, जमाया उस पर आसन,
गया निषध यदि जाय, मिला यह वन का शासन।
रानी तो सो गई किन्तु नृप सो न सके थे,
चिन्तायें थी व्याप्त जिन्हे वे खो न सके थे।
रह रह मधुर अतीत दृष्टि के आगे आता,
उठे हृदय मे हूल, न उनको सोना भाता।
जैसे तैसे विवश वहाँ कुछ काल बिताया,
पैरो के व्रण भरे देह ने बल-सा पाया।
एक दिवस नृप उत्तरीय-को छोड किनारे,
उतरे जल-में स्नान-हेतु कुछ गोते मारे।
समझ वस्त्र को भक्ष्य, चील ले उडी गगन-मे,
राज्य-नाश सा ही दुख नृप ने माना मन-मे।
अरे दुष्ट विधि वाम ! न तू यह भी सह पाया,
जान सका है कौन ! अलक्षित तेरी माया।
अब वे आगे-बढे विपिन मे समय बिताते,
खाते वन फल मूल साँझ होते सो जाते।
दो धोती ही दोनो का तन ढाँक रही थी,
छिद्रो मे से देह मुक्त-सी झाँक रही थी।
शोकोदधि के पार चले धीरज को धरते,
बीत गया बहु काल उन्हे यों-वहाँ विचरते।

थी वन की वह एक साँझ कुछ हुई अँधेरी,
मिला भटकता उन्हे अचानक एक अहेरी।

हाँ-यह सब सुन देख, दुखी थी छोटी रानी,
घर-मे ही वे पडी-रही दो दिन कल्याणी।
पिया न जल तक तनिक, न वे कुछ बोली चाली,
बिना बहन के उन्हे काटता था घर खाली।
दो दिन पीछे उठी, चली वे भरी-घटा-सी,
राज्य-सभा मे गई, दमकती दिव्य-छटा सी।
छूकर पति-के चरण, अश्रु-भरकर यो-बोली,
भरी न होगी नाथ! अभी यह रीती झोली।
यह लो अपनी शेष सम्पदा शीघ्र सँभालो,
वन्दि जनों से यशोगान सोल्लास करालो।
कहती जाती, अलग आभरण रखती जाती,
सिसक सिसक रो रही देखकर फटती छाती।
दमयन्ती ने जहाँ उतारे निज आभूषण,
पटके उसने वही, समझकर निज सब दूषण।
और स्व-पति मे कहा, आज तो कोष भरा है,
कहो, किन्तु सम्राट्! मुकुट क्यों, अलग धरा है।
मन के दुस्सकल्प तुम्हारे सज्जित है सब,
किन्तु, पितर तो लाज-सिन्धु-मे मज्जित है अब।
पतिव्रता मै साथ तुम्हारे मर-सकती हूँ,
जग-भर का दुख-दैन्य शीस पर धर सकती हूँ।
इस दुष्पथ-मे नही पैर, पर अपना दूँगी,
यह दुष्कृत है मै न भागिनी इसमे हूँगी।
अन्यायार्जित राज्य, जलाकर राख करेगा,
गये प्राण तो, शेष रही अब साख हरेगा।
ज्वलित अग्नि-से मोद मानकर मै खेलूँगी,
लोगो-का अपवाद स-हर्ष सभी झेलूँगी।
विषम-नरक-के-ताप, सभी मै सह सकती हूँ,
किन्तु, न अब क्षण एक, यहाँ पर रह सकती हूँ।

राज्य-कु-लिप्सा, जिसे कि समझा था अरुणाई,
ठगे गये हम स्वय पुती मुख-पर बन स्याही।
भाई से छल आह! कौन फिर बच पावेगा,
त्राहि त्राहि रव विकट, निषध-मे मच जावेगा।
राज-वश की आग प्रजा-को भी फूँकेगी,
बोले-यहाँ उलूक, न अब कोयल कूकेगी।
नृप-का तो हो गया कपट-से निष्कासन है,
गये विपिन मे सिह, रिक्त यह सिहासन है।
नैषध-लक्ष्मी हाय! विपिन-मे साथ गई है,
वैदर्भी के लिए कपट की चाल नई है।
हम तो थी अनजान न सोचा सपनो-मे भी,
होता है छल-छिद्र, राज्य-हित अपनो-मे भी।
अच्छा ही यह हुआ, न पहले जान-सकी मै,
पितृ-कुल तो बच गया, न उसको सान-सकी मै।
जब तक प्रायश्चित्त न इसका हो-जावेगा,
चन्द्र-वश का कलुष न जब तक धो-जावेगा।
तपश्चरण से पाप न यह जब तक क्षय होगा,
जब तक यह साम्राज्य न फिर नैषध-मय होगा।
आ-जावेगी यहाँ न चलकर नैषध-रानी,
अपना अपहृत-भाग न जब तक पावे मानी।
तब तक के ही लिए, अटल मुझको अब जाना,
अपना ही आदेश, स्वय मैने अब माना।
मै दूना तप करूँ, पाप दो-का है धोना,
बना-रहे यह तुम्हे, तुम्हारा चाँदी-सोना।
कुण्डिनपुर-को भस्म न कर दे यह चिनगारी,
छोड रही हूँ यही सम्पदा अत तुम्हारी।
इतना कह, हो वस्त्र-शेष, निज रथ-जुतवाया,
कुण्डिनपुर को चली-गई वे नैषध-माया।

घर घर-मे ये गीत उन्ही के घूम-रहे है,
गा-गा जिनको निषध-निवासी झूम-रहे है।
साँस-रोक सुन-रहे सजग-हो राजा-रानी,
सूख चुका था निकल निकल आँखो का पानी।
राजा का सकोच, भीमजा मुख की लाली—
देख न पाया अतिथि, घिरी थी रजनी काली।
"सरस कथा यह भद्र! सुनाई तुमने सुन्दर,
कहो, किन्तु निष्पाप सुजन क्योकर है पुष्कर।"
"हाँ-अब वह भी सुनो, सुनाता हूँ मै भाई,
मै जो कुछ सुन चुका, न है पुष्कर अन्याई।
राज-वश की बात, अधम जन मेरे जैसा—
जान-सका है कहाँ, यदपि प्रत्यय है ऐसा।
पर, सच समझो, गीत बने अब ये घर-घर मे,
गाते है आ-बाल वृद्ध, सब ऊँचे स्वर-मे।
लय-तालो पर साध, घूम गायक गाते है,
सुन, जिन को सद्भाव, जनो-मे भर जाते है।
हाँ-तो राजा चले गये, जब वन-को ऐसे,
पुष्कर थे गभीर धीर सागर हो जैसे।
होने लगा विताप उन्हे, नृप-के जाते ही,
समझ गये निज पाप, स-जगता कुछ पाते ही
किसी से न कुछ सुना, न वे ही थे कुछ बोले—
पिये-रहे वे तरल गरल-सा निज-कर घोले।
सिंहासन-पर धरा मुकुट, वे बठे नीचे,
दो-दिन तक यो-रहे सोचते, निज दृग-मीचे।
जब उनको सुध हुई, तभी बोले-चिल्लाकर,
"करो उपस्थित अभी, अधम गालव को लाकर।
लाओ, लाओ, शीघ्र जहाँ पावे वह पातक,
प्राण-दण्ड दो उसे, वही इस कुल का घातक।

और मुझे हाँ मुझे, सभी मिल मुझ-पर थूको,
ज्वलित अग्नि-मे शीघ्र झोक दो, अब मत चूको।
अपने घर-मे मैने ही यह आग लगाई,
विषम तीर-का लक्ष्य, बनाया अपना भाई।
महामात्य ! अब गुप्तचरो-को सत्वर भेजो,
निषध-सम्पदा बिखर गई तुम इसे सहेजो।
जैसे-भी हो शीघ्र आर्य्य को, खोजे-लावे,
उनका यह साम्राज्य, उन्ही के चरण चढावे।
हुई परीक्षा, विफल रहा - मै बन अन्याई,
धन्य तदपि, जो सफल रहे मेरे ही भाई।
अह्ह, कु-सग विष-सम नाशक, विष-विषम नही है,
मुझ-जैसा हत-भाग्य, विश्व-मे अधम नही है।
देखेगा अब कौन ! हुआ यह असित-वदन है,
मेरे हित अब निषध, बना यमराज - सदन है।
इतना ही कह सके, बहा नयनो-से पानी,
आ-पहुँची थी तभी वहाँ - पर छोटी रानी।
वह मै कह ही चुका, वहाँ-पर फिर जो बीता,
चली गई झकझोर उन्हे वे यथा पुनीता।
उनका सभी विषाद विनत हो सहा उन्होने,
थे वे अविचल मौन, न कुछ भी कहा-उन्होने।
चली गई जब प्रिया, उन्होने तब दृग-खोले,
भर लम्बा-सा साँस व्यथित धीरे-से बोले—
धन्य देवि ! तुम धन्य ! धन्य कुण्डिनपुर-पानी,
अपने ही सब योग्य किया यह तुमने रानी।
यो-कहकर रो - पडे बह - चली दृग-जल-धारा,
शासन की वह प्राप्ति लगी उनको निज-कारा।
जैसे तैसे उन्हे, जनो ने धीरज देकर,

बीत गया बहु काल, खोजकर सभी थके-है,
पर, निज नृप-का भेद न कुछ भी जान सके है।
गालव का भी वृत्त न है अब तक कुछ पाया,
छिपा, मरा या कही, कुफल दुष्कृत का पाया।
काषायिक-ही वस्त्र आज निज तन-पर धारे—
चला-रहे है काम नलानुज मन-को मारे।
राजतन्त्र गतिशील रहे यह शिथिल न होवे,
अपनी विश्रुत दिव्य विभवता निषध न खोवे।
यही सोच युवराज यत्न मे लगे-हुए है,
सभी नागरिक साथ उन्ही के जगे-हुए है।
सिहासन नृप-हीन मुकुट उस पर रहता है,
मानो, निज दुर्व्यथा मौन-ही वह कहता है।
घेरे रहती उन्हे सर्वदा मरी-उदासी,
चला-रहे युवराज, राज-को हो सन्यासी।
आवेगे ही निषधराज पथ देख-रहे सब,
एक सोच पर विकल सभी-को करता है अब।
नृप-प्रण के अनुसार आज विश्वास यही है,
छिपे-हुए सम्राट्, बने ध्रुव दास कही है।
निज-व्रत-पालन-हेतु सभी कुछ सह-लेगे वे,
वीर-पुरुष, समयानुसार ही रह-लेगे वे।
किन्तु, विश्व-सुन्दरी अनघ वे वीणापाणी—
चली गई है स-हठ साथ उनके माँ-रानी।
कमल-कोमला, विमल, अ-छल, अजरा-अमरा-सी,
कैसे-होगी हाय! राज-महिषी वे-दासी।
यदि वे-दासी हुई, प्रलय ही हो जायेगी,
निषध-प्रजा निज-वदन न अपना दिखलायेगी।
कट-जायेगी नाक धूल-मे मान मिलेगा,
होकर कम्पित-भीत, अवश ब्रह्माण्ड हिलेगा।

जिसकी दासी-बने कुल-क्षय उसका होगा,
धर्म-पूर्ण भी राज्य, पाप-मय उसका होगा।
निषध-प्रजा को यही सोच, क्यो चली गई-वे,
कल्प-लता की कली, दुखो-से दली गई-वे।
अच्छा होता, साथ न नृप उनको ले जाते,
रह जाती वे यही, निषध-जन दर्शन पाते।
जान-रहे सब, व्रत न अधूरा नृप छोड़ेगे,
जिस पथ पर बढ गये, न उससे मुँह मोडेगे।
भेद चले तो, सहठ राजमहिषी को तत्क्षण—
लौटा लावे, यही सोचकर खोज रहे जन।
जो भी उनको खोज सकेगा जन-पुण्यव्रत,
बहु-धन देकर उसे करेगा राज्य पुरस्कृत।
हम जैसो-का भाग्य कहाँ, वे हमको पावे,
बीत गई अब अर्ध-निशा अच्छा, सो-जावे।
कर थोडा विश्राम सवेरे-ही जाऊँगा,
बिछुडे सगी सभी, खोज उनको पाऊँगा।
मिले भाग्य-से मुझे धन्य, तुम मुनि हो कोई,
वाण-प्रस्थ वनस्थ, सुधर्म-धुनी हो कोई।
सुधन-तपोवन-पूत, तुम्हारा दृग-हारी है,
मानो, सुर-कर-पली, खिली कुकुम-क्यारी है।
यो-कह वह सो गया, वहाँ नीरवता छाई,
नृप-दम्पति थे सजग, उन्हे कब निद्रा आई।
जागृत होकर भी न परस्पर बोल रहे वे,
सुख-दुख झोके चले, उन्ही-मे डोल-रहे वे।
उठ प्रभात-मे कर प्रणाम, वह गया अहेरी,
नृप भी हुए प्रबुद्ध, न करके कुछ भी देरी।
अब न निरापद समझ वहाँ-रहना निज मन-मे,
रानी को ले सग, बढ़े नृप आगे वन-मे।

मोचा होकर दास, सु-तप वह करना ही है,
आत्म-शोध के साथ, पाप वह हरना ही है।
किन्तु न है निष्पाप, साथ रानी का रहना,
आता नृप को याद, अहेरी का वह कहना।
"कमल कोमला, विमल, अछल, अजरा-अमरा-सी,
कैसे होगी हाय! राजमहिषी वे दासी।"
नृप-को यह हा सोच, व्यथित अब नित करता था,
वन शोभा-का-पुञ्ज भी न उसको हरता था।
होकर पर गभीर, छिपाये रखते मन-मे,
जाता जब तब दमक, वेग विद्युत-सा घन-मे।
वह विशाल वन-भाग दिखाते थे रानी को,
होता यदि कुछ ज्ञेय, जताते वे रानी को।
"देखो यह ह्रद प्रिये! मोद देता है मन-को,
छूते गिरि-उत्तुङ्ग-शृङ्ग, वे उधर गगन को।
इधर महापथ यही अवन्ती गिरि पर जाता,
ऋक्ष-खान, गिरि ऋक्षवन्त इस पर ही आता।
इधर महाचल विन्ध्य, सजग दक्षिण-का प्रहरी,
धोती इसके पाद, पयोष्णी सरिता गहरी।
अचल - पदामृत लिये-सिन्धु-को देने जाती,
पाने को प्रिय-अङ्क, मधुर-स्वन कल-कल गाती।
रहते ऋषि मुनि वहाँ, प्राप्त-कर इसके तट को—
होकर मोह-विमुक्त, भुक्त कर जग झन्झट को।
हैं तप-सागर-मीन लीन स्वच्छन्द वहाँ-वे,
मिलते है बहु मूल-फूल-फल-कन्द जहाँ-वे।
उसी ठौर से एक मार्ग कोसल-को जाता,
अन्य विलम्बित-मार्ग दक्षिणा-पथ को पाता।
इन दोनो से अलग, विदर्भो-का वह पथ है,
हम दोनो की मिलन-भुक्ति का जो मधु-ग्रथ है।

सुन विदर्भ का नाम चकित सी थी वैदर्भी,
ठिठक-गई भय लगा, थकित सी थी वैदर्भी।
धड धड करके लगा, फूल-सा हृदय धडकने,
वह वामेनर-दुरित नेत्र भी लगा फडकने।
बैठ गई वे हृदय थामकर अपना सहसा,
उनको कुछ अज्ञात, आज भय-लगा असह-सा।
प्रिय-से कह निज दशा उन्होने धीरज पाया,
वैसे ही ज्यो सलिल-विन्दु ने नीरज पाया।
हो न सका सन्तोष, निहत-सी फिर वे बोली—
नृप-मुख-पर थी लगी, मृगी-सी आँखे-भोली।
अवधि-पूर्व हम निषध न लौटे-ध्रुव ! निश्चय है,
पर, यदि चले विदर्भ धर्म-को वहाँ न भय है।
दिखलाते क्यो-मार्ग मुझे-ही कुण्डिन-पुर-का,
शान्त-रहे प्रतिबिम्ब दुखद-यह कुण्ठित उर-का।
भोग लिये बहु कष्ट तदपि अपशकुन अभागे,
करते मुझको स-जग, कि है दुख तो अब आगे।
पावेगे सत्कार वहाँ, व्रत-भंग न होगा,
यह सब वन का क्लेश हमारे सग न होगा।
बुरे समय के लिए, हुआ करते है अपने,
मधुर वचन तब कहा-प्रिया-से हँसकर नृप ने।
था न प्रिये ! यह अर्थ, तुम्हे पथ दिखलाने का,
है न सुखेच्छा मुझे, न भय है दुख पाने का।
व्रत पूरा कर रहा प्रिये ! मै दीन नही हूँ,
वचन-बद्ध हूँ, किन्तु शक्ति-से हीन नही हूँ।
कर सकता हूँ सभी प्राप्त, मै निज भुज-बल से,
पर, हो छलना बुरी वही, अपने ही छल से।
जाऊँगा न विदर्भ शुभे ! मै यो-व्रत ले कर,
हाँ - यदि तुम जा-सको वहाँ, कुछ धीरज देकर।

तो प्रसन्न मै रहूँ, तुम्हारा भी हित होगा,
तुमको दुखी न देख, न दुख मुझको नित होगा।"
"प्राणेश्वर को छोड़ भला क्या-धन पाऊँगी,
नाथ! तुम्हारे साथ नरक-मे भी जाऊँगी।
यों-कहकर रो-पडी, कली-सी वे मुरझायी,
नृप से पा बहु-बोध, शान्ति कुछ मन ने पाई।

आई वह भी रात विपिन-मे तरु-के नीचे,
चिन्ता-मे थे लीन महीपति आँखे-मीचे।
पा न सके थे आज, भाग्य-वश वे कुछ भोजन,
क्षुधित-प्रिया को देख, विदीर्ण हुआ था तन मन।
कमल-कोमला, विमल, अछल, अजरा-अमरा-सो—
कैसी है ये आज, उन्हे थी यही उदासी।
देख रही थी टुकुर-टुकुर उनका मुख-रानी,
कर नीरवता भग, हुई वीणा-सी वाणी।
"जाने बस अखिलेश! कि इसमे कौन! भेद है,
नाथ! किन्तु हो रहा स्वयं पर मुझे खेद है।
भाग्यहीन मै हुई भाग अपना पाने से,
बढ़ आपके दुख अधिक मेरे आने से।
आई थी इसलिए-कि विपदाये बाटूँगी,
होगे कण्टक जहाँ, पुष्प उनसे छाटूँगी।
छोड दिया सब राज-पाठ, लघु-से शिशु अपने,
विपदोदधि-मे बहा-दिये, सारे मधु-सपने।
लुके-छिपे भी जिधर वदन हमने निज फेरे,
मिला वही दुर्भाग्य हमारा हमको-घेरे।
स्वस्थ रहो तुम नाथ! सभी कुछ है फिर वन-मे,
इस विधु-मुख को देख, मोद पाऊँगी मन-मे।

हल्का करने चली, किन्तु, अब भार बनी हूँ,
सौख्यदायिनी हाय! विषैला-प्यार बनी हूँ।
अपना तो कुछ नही पडेग सो झेलूँगी,
सच कहती हूँ नाथ! समुद दुख-से खेलूँगी।
पर, नत-आनन अपनी सुध बुध सभी बिसारे—
सुप्त-सिन्धु-सा मौन दुखद यो-तुमको धारे।
सहन न होता उसे देख भय-सा लगता है,
भावी भय का रूप अकल्पित-सा जगता है।
रहे दु:ख वे कौन! न हमने है जो झेले,
विपदा के विद्रूप सभी तो हमसे खेले।
कहता है मन अभी और कुछ सहना होगा,
जिस विध चाहे देव, उसी विध रहना होगा।
यद्यपि सब सुख छिना, आज मै हूँ अधनङ्गी,
इन चरणो-की किन्तु अबाध रहूँ मै सङ्गी।
है प्रभु-पद मे टेर, अभागी की यह नत-सी,
इच्छा है बस यही, और तो हुई विगत-सी।
देव! न जाने दशा आज मेरी है कैसी,
अब तक मन में बढी न थी व्याकुलता ऐसी।
इतना ही कह सकी उसाँस उभर कर आया,
हिड़की-सी बँध गई अधर ने कम्पन पाया।
मानो, पाकर ताप बहा हिम बनकर पानी,
भरा कण्ठ, हो गई रुद्ध उससे ही वाणी।
महिषी की बह चली फूट कर दृग-जल-धारा,
उद्वेजित नृप हुए, शोक से उसे निहारा।
अनायास नृप-हस्त, भीमजा-सिर पर आया,
ताप-निवारण हेतु, लता-पर घन-सा छाया।

"भद्रे ! यह क्या-विगत-भान तुम किधर बही हो,
देव विजयनी तेज राशि क्या-आज नही हो।
सोचो, सोचो, भरी सभा-मे तुमने कैसे——
किये अमर निस्तेज, आज रोती हो ऐसे।
दुख-मे ध्रुव ! सन्मित्र एक धीरज है जग-मे,
करता वह ही पार अथाह विपद-नद-मग-मे।
सुख न रहे दुख पडे, न ये भी शेष रहेगे,
किन्तु तुम्हारी सुयश कथा, जन सदा कहेगे।
गया यदपि सर्वस्व, और हम हुए बिगाने,
सच कहता हूँ देवि ! न पर मैने दुख जाने।
पद पद पर सिर पडी विपद, पर नही थका मै,
हाँ-दुख क्या-यह प्रिये ! आज ही जान सका मै।
जिसने मेरे लिए देव भी किये तिरस्कृत,
प्राणो का तज मोह, लिया जिसने मेरा व्रत।
पुण्यमूर्त्ति तुम वही आज असहाया रोती,
लाज-निवारण-हेतु, फटी सी तन पर धोती।
धिक् धिक् मुझको प्रिये ! अधम यह जीवन पाकर,
कब ! रख सका सँभाल दिव्य तुमसा धन पाकर।
रख न सका मै ठीक सहचरी मति गति को भी,
पाल सका निज-हाथ न अपनी सन्तति को भी।
अपने से हो आज स्वय मैने मुँह फेरा,
मुझे न देखे मनुज, व्याप्त यह रहे अँधेरा।
गला भूप का रूँधा विकल हो स्वर भर्राया,
महिषी-दृग-का सलिल, भूप नेत्रो में छाया।
कण्ठ स्वच्छ कर और शक्ति सी सञ्चित करके,
भीम सुता ने कहा-नृपति से तनिक उभर के।
आई थी मै साथ करूँगी दुःख निवारण,
बढ़ा किन्तु यह और अभागा-मेरे कारण।

मुझे न कुछ दुख नाथ ! भले ही हूँ अधनङ्गी,
मेरा दीप्त सिँदूर माँग-मे जीवनसगी।
आया मुझको ध्यान थी कि मै नैषध रानी,
द्रवित इसी से हुआ हाय ! आँखो का पानी।
अबला है हम भरा सबल आँखो-मे जल है,
कल कल करता कही विकल बहता छल-छल है।
व्याकुल तुमको देख, हाल क्या होगा मेरा,
तब-विधु-मुख मुस्कान, मुझे है दिव्य उजेरा।
प्रकृति-भीरु हम दीन-हीन अबला होती है,
स्व-जन-सोच को देख सहज विकला रोती हैं।
पुरुषो पर हम भार रही है और रहेगी,
जीवन का आधार छोड हम किधर बहेगी।
त्यागा तृण-सा राज्य, भाग अपना भ्राता-हित,
किया दुखो को वरण, निबाहा निज-व्रत समुचित।
व्रत पालन के लिए कष्ट यो कौन ! सहेगा,
यदि तुम धिक् धिक् हुए धन्य, फिर कौन ! रहेगा।
आते हैं दुख सदा कलुष मन का धोने को,
दीप्ति-दान ज्यो-अग्नि-शिखा करती सोने को।
हर्षित हूँ मै और रहूँगी, शोक हरो अब,
हो तुम विश्रुत सुभट, ध्यान बस यही धरो अब।
ऐसा कहकर मौन हुई मानो, वह वीणा,
(हो अनन्य तुम धन्य देवि ! है यह ही जीना।)
हुए स्वस्थ से भूप प्रिया का वदन विलोका,
अपना दुख का वेग स-बल हो सहसा रोका।
बोले—यह नारीत्त्व अबलता स्रोत नही है,
कान्ति-मान नारीत्त्व-तुल्य, हिम-धौत नही है।
दीन हीन तुम कहाँ, प्रतीक तुम्ही-हो बल का,
तुम्ही निवारण-मात्र देवि ! सशय का छल-का।

विधि की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि पुरुषत्त्व यहाँ है,
उसी शक्ति-पर पूर्ण-विजय नारीत्त्व रहा है।
अबला हो तुम किन्तु, विपद मे बल हो तुम ही,
विश्व मरु-स्थल है यह इसमे जल हो तुम ही।
है न मुझे कुछ शोक, राज्य से दीन हुआ मै,
था मेरा वह कहाँ-कि जिससे हीन हुआ मै।
मात्र धरोहर जनता की वह मैने पाई,
आज उसी का सरक्षक है मेरा भाई।
जो मुझसे भी श्रेष्ठ, गुणी सुन्दर मानी है,
पहले से भी अधिक समृद्ध राजधानी है।
नियति-चक्र यह अनवधान गति-शील रहेगा,
मुझे जुआरी किन्तु सदा यह लोक कहेगा।
खेला मै ही द्यूत निकृष्ट कर्म था मेरा,
उसका प्रतिफल-भोग विशुद्ध धर्म था मेरा।
उसमे भी तुम हाय ! भागिनी बनकर आई,
भद्रे ! है यह स्मरण-मात्र मुझको दुखदायी।
बच्चो-के ही सग, विदर्भ तुम्हे जाना था,
अति दुरुह यह मार्ग, न तुमको अपनाना था।
अस्तु ! हुआ सो हुआ प्रिये ! अब तुम सो जाओ,
कर निद्रा को प्राप्त शान्ति तुम निर्भय पाओ।
घूम-रहे सर्वत्र हिस्र-पशु आखेटक बन,
सुनो, उधर कर रहा सिह वह गर्जन तर्जन।
धाँय धाँय, कर रहा विपिन, रो रही शृगाली,
से-से-करती बीत गई आधी निशि काली"
"पर, स्वामी ! सुख-भोग किया जब साथ तुम्हारे,
सौपा निज सर्वस्व, स्वय ही हाथ तुम्हारे।
आज दुखो-को देख, भीति क्या-उनसे पाती,
वन-मे भटकें आप और मै मौज उडाती।"

यो-कह लेटी वही घास पर तरु के नीचे,
सोच रही चुपचाप, विगत कुछ निज दृग मीचे।
यो-ही सुनती स्वय, स्वय से कहती-कहती—
खोई थी वह भाव-सिन्धु-मे बहती बहती।
भेट अङ्क-मे लिया, नीद ने सभी भुलाकर,
उडी स्वय ही भूख, न कुछ भी आश्रय पाकर।
सोती थी सौ चन्द्र वदन पर किन्तु जगे थे,
उस पर सजग चकोर नृपति के नेत्र लगे थे।
देख रहे चुप-चाप ठगे भावी को क्रीडा,
फुला - रही थी वक्ष, उधर भीतर उठ पीडा।
हाथ धनुष पर एक, एक नत मस्तक पर था,
तिमिर-पुञ्ज मे दीप्त-रदो-से दबा अधर था।
श्रद्धा-सी थी नमित, शयित चरणो-मे रानी,
रक्षा करता धर्म स-जग होकर नृप मानो।
आँखो-मे थी दया, और विक्षुब्ध हृदय था,
कशापात कर रहा उसी पर विगत अनय था।
गहन-सिन्धु मन बना, विचार ऊर्मि लहराती,
पाती किन्तु न कूल परस्पर लड घहराती।
अचल-मूर्त्ति नृप, प्राण किन्तु फिर रहे भटकते,
आश्रय था बस एक जहाँ-पर पहुँच अटकते।
मुझको तो ध्रुव! दिया वचन है पूरा करना,
किया कर्म जो, पड़े फलाफल निश्चय भरना।
कष्टो-मे पड अधम दुरात्मा जो मँज जाये,
ठोकर खा खा उठे, खोज सत्पथ को पाये।
निरपराध निष्पाप कष्ट भोगे क्यो रानी,
कहना माना नही व्यर्थ इसने हठ ठानी।
कमल-कोमला, विमल, अछल, अजरा-अमरा - सी,
हुई हाय! यह आज स्वय ही मूर्त्त-जरा-सी।

ओह ! कण्टकित-भूमि, लपेट फटी-सी धोती,
चन्द्र वश की लाज, राज-महिषी यह सोती ।
सुर-दुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त कर बडी हुई है,
अब मृग-भक्षित-शेष कुशा पर पडी हुई है ।
यही अनिन्द्य स्वरूप, देखकर देव लुभाये,
राज-हस ने विरुद, मुग्ध हो जिसके गाये ।
दिव-सम कुण्डिननगर जहाँ-यह ज्योति जगी थी,
सुर-नर सब-मे जिसे, प्राप्ति की होड लगी थी ।
वही निराश्रित, बहिष्कृता-सी दु ख पगी अब,
इसकी शयन-समाधि वृक्ष के तले लगी अब ।
घेरे है अब मसक, असूर्यपश्या थी जो,
पडो उघाडी वही, अ-पुण्य-अदृश्या थी जो ।
मान रही यह मुझे, कि मै इसका सबल हूँ,
इस अबला को देख किन्तु मै स्वय अबल हूँ ।
इसकी यह दुर्दशा स्वय, मैने ही की है,
नरक-यातना हाय ! इसे मैने ही दी है ।
किये पाप जो स्वय उन्हे मै ही तो धोता,
पर, पापी तो भरी नाव मँझधार डुबोता ।
देख भिक्षुणी इसको छाती फटती - सी है,
पद-नीचे से धरा अचानक हटता - सी है ।
हाँ, अब भी यह मुझे छोड यदि मैके जाये,
अनायास ही वहाँ, अनीप्सित सुख को पाये ।
सुखी रहे यह मुझे, इसी से शान्ति मिलेगी,
पितृ-पद स्नेहित उधर मुरझती लता खिलेगी ।
इसको समझा बुझा अत कल लौटाऊँ मै,
किया कर्म जो स्वय, स्वत. ही फल पाऊँ मै ।
पर, पति-पद-अनुगता, सलिल-मे गल सकती जो,
सती शक्ति यह स्वय, अनल मे जल सकती जो ।

होगी क्या व्रत-निरत भला समझाने भर-से,
यदि यो जाती लौट न आती ही तो घर-से।
अच्छा हो यदि इसे छोड जाऊँ मै सोती,
पहुँचेगी तब यह निश्चय ही मैके रोती।
होगा पर विश्वासघात जो यो छोड़ूँ मै,
लिया सुरक्षा-भार और अब मुँह मोड़ूँ मै।
मण्डप नीचे अनल-देव को साक्षी करके,
'हस्त ते गृभ्णामि' कहा श्रुति-मँत्र उभर के।
होगा मिथ्याचार करूँ छल छद्म अवश-पर,
पुत जावेगी और कालिमा धवल सुयश-पर।
रहा कहाँ-वह धवल पडा पर अब तो फीका,
खेल चुका जो द्यूत कुमति-वश प्रथम अनीका।
राजा था तब बुरा, बुरे के लिए किया था,
राजपाठ सब लगा दाव पर जिता दिया था।
आज रङ्क बन, बुरा भले के लिए करूँ मै,
हुई हानि को एक दाव से और भरूँ मै।
करूँ कार्य अब वही, छिपा जिसमे इसका हित,
आँके यह ससार, हुआ समुचित या अनुचित।
निश्चय, सोती-हुई प्रिया को छोड चलूँ मै,
रग-गन्ध के लिए सुमन को और दलूँ मै।
पर, मै इसको छोड चला यदि वन मे ऐसे,
फिरते है मुँह फाड़ हिस्र-पशु कैसे कैसे।
पाकर इसे निरीह, न क्या-ये खा जायेगे,
गुहा-द्वार पर सिह स्वयं भोजन पायेगे।
हो जीवन का अन्त न कुछ भी युक्ति चलेगी,
पर, तब भी हित निहित, विपद से मुक्ति मिलेगी।
है यह रूप अनिन्द्य करे जो स्वय उजाला,
वन मे यदि पड जाय, आततायी से पाला।

होगा तब फिर दृश्य, पुरातन कुण्डिनपुर का,
जागृत हो वह सती तेज, सोया जो उर-का।
तब यह लघु-सी खडग हाथ में इसके होगी,
किये कर्म का कुफल, स्वय भोगे वह भोगी।
कौन ! विश्व-मे शक्ति, इसे जो वश-मे करले,
कर इसको निरुपाय शील इसका जो हरले।
सोच रहे थे भूप, एक झोका-सा आया,
हुआ देह गतिमान, हृदय ने निश्चय पाया।
सहज भाव से उठे, न आहट हो कुछ जिससे,
करता हूँ हे राम ! आज मै धोखा इससे।
सम्मुख पडी अचेत भीमजा भोली भाली,
ले स्व-जाति का पक्ष, घुरकती थी निशि काली।
बहता था अब तीव्र वायु शीतलता धारे,
अर्ध-विवसना पडी भीमजा कुण्डल मारे।
हिम आच्छादित सिकुड-गई थी हेमलता-सी,
मानो, हरि-पद हुई समर्पित भक्ति नता-सी।
जाग न जावे शीघ्र, ध्यान राजा को आया,
अपना आधा वस्त्र फाडकर उसे उढाया।
और खोल निज खडग पार्श्व-मे रख दी उसके,
क्रुद्ध सर्पिणी तुल्य रक्त चाटे जो घुसके।
लेकर दीर्घ उसाँस, विवश भूपति ने त्यागा,
धीरे धीरे कहा-ओह मै बडा अभागा।
करना मुझको क्षमा देवि ! कुछ दोष न मेरा,
इस दुष्कृत से स्पष्ट प्रिये ! परितोष न मेरा।
यद्यपि अपयश कथा जगत मेरी गायेगा,
पर, छुटकारा तुम्हे विपद्-से मिल जायेगा।
देख रहे थे खडे खडे टकटकी लगाये,
पर, कुछ जागृति-चिन्ह न सम्राज्ञी-मे पाये।

निकले फिर यों वचन, उठा सहसा मुँह ऊपर,
हे तरु ! इसके एक मात्र अब हो तुम भू-पर।
निरालम्ब यह लता तुम्ही को सौप-रहा हूँ,
है निश्चय यह कु-पथ, जहाँ पद रोप-रहा हूँ।
सूर्योदय तक इसे शान्ति से बन्धु ! सुलाना,
जागे तब यह दृश्य, दया कर इसे भुलाना।
धीरज देना बड़े प्रेम-से शिक्षा करके,
भूख लगे फल-दान करो तब भिक्षा करके।
साक्षी है वन-देव, देवियाँ विटप लतायें,
फैला यह नभ नील विशद जो दाँये बाँये।
कोई भी यदि यहाँ और छिपकर सुनता हो,
मुझ जैसा-ही जाग अभागा सिर धुनता हो।
नक्षत्रो ! मत हँसो, सुनो तुम भी ये बातें,
मै स्व-सहचरी-सग, आज करता जो घातें।
रोक रहा है अन्तरात्म, आदेश नही है,
मेरा अपना छिपा स्वार्थ-उद्देश्य नही है।
सुख इसका ही समझ पाप सिर पर धरता हूँ,
प्रिया-श्रेय हित, आत्म-प्रवञ्चन मै करता हूँ।
समझ रहा हूँ, महापाप यह नष्ट न होगा,
इस पर जन मतिमान कही आकृष्ट न होगा।
नोचेगा दिन-रात न मुझको सोने दे यह,
मरण-शान्ति भी प्राप्त न मुझको होने दे यह।
खोलेगा हाँ - द्वार नरक भीषण रौरव-का,
देख हँसेगे कृत्य निशाचर भी मानव-का।
इसके सभी प्रचण्ड दण्ड मै सिर पर ले-लूँ,
प्राण प्रिया के लिए यातना सारी झेलूँ।
हो यह निद्रा-मुक्त, आँख जब अपनी खोले,
कहना इससे विपिन ! तभी तुम होले होले '

'शान्त रहो तुम देवि ! मूर्त्त दुख गया अभागा,
पर, तेरे ही लिए तुझे उसने है त्यागा।'
छिपे-रहो हे चन्द्र ! विधायक हो तुम कुल के,
मत-देखो, ये भण्ड-कृत्य, निज - वश अतुल - के।
यों-कहकर चल पडे, प्राण भीतर घुटते थे,
पकड रही थी धरा, न पद आगे उठते थे।
सहसा सूखा-पत्र, अश्रु-मिस तरु ने छोडा,
उस आहट से सहम, भूप ने आनन मोड़ा।
उलटे पैरो लौट, निहारी रानी सोती,
दीखी वह निस्पन्द, न जागृति-सी गति होती।
क्षण - भर उसको देख, हृदय को पत्थर करके,
हो सर्वस्व-विहीन बँधे-से आगे सरके।
दिग्भ्रम-सा हो रहा, न कुछ भी ज्ञान उन्हे था,
किधर चले जा-रहे, न इसका ध्यान उन्हे था।
कन्धे पर था धनुष, हृदय - मे चिन्ता गहरी,
खडे हुए थे वृक्ष जागते हों ज्यो - प्रहरी।
देख नृपति का कृत्य कॉपते थे वे भय-से,
था पर दृढ-विश्वास अन्त में सती-विजय-से।
टिम टिम कर नक्षत्र, आँख नृप को दिखलाते,
और रात के साथ ओस मिस अश्रु बहाते।
वन्य-लता परिपूर्ण प्रकृति का कुञ्ज खड़ा था,
शयन-मग्न हो जहाँ तिमिर का पुञ्ज पड़ा था।
पद-हत हो उठ चौक, मोह कुछ अर्जित करता,
नत हो नृप-पद पकड, कुपथ-से वर्जित करता।
पद-तल से दब, शुष्क-पत्र खड खड करते थे,
आहट सुन झट सजग विहग, फडफड करते थे।
बोला-पक्षी इधर, क्रुद्ध मानो चिल्लाया,
अरे अहेरी ! आज रात - में भी तू आया।

प्रिया-कण्ठ निष्कपट, लिपट जिससे हम सोये
मन्दबुद्धि ! आनन्द हमारे निशि के खोये।
निज-कान्ता मधु-प्रेम तुझे क्या-रोक न पाया,
पर, तू वज्र कठोर तुझे क्या ममता-माया।
आगे थे झंखाड झाड डेरा-सा डाले,
दिन मे भी पड जॉय, जहाँ-पर गति को लाले।
कण्टकादि दुर्वार विघ्न पथ-मे आते थे,
उन सब पर पा विजय महीप बढे जाते थे।
था बस लक्ष्य समक्ष, भोर होने से पहले,
रानी से अलि दूर पहुँच कुछ आश्रय गहले।
अब नभ मे शशि चढें देखते कृत्य अनीका,
किये वदन निस्तेज, रग कुछ फीका फीका।
बीत चली थी रात पुती नभ-मे अरुणाई,
प्रिय के आगे-हुई विहँसती ऊषा आई।
चहक-उठे सब विहग, तिमिर जगती-से भागा,
महक उठा वन प्रान्त, विश्व सोते-से जागा।
दिनकर नृप पर हँसे, "प्रिया-से तुम बच भागे,
मेरी अपनी प्राण प्रिया है मेरे आगे।"
सुनता था पर कौन ! छिपाये अपनी पीडा,
बढ़े नृपति जा-रहे, खेलती भावी क्रीडा।

बढ रहे वें, वाण-लक्ष्य-भ्रष्ट-से,
आप ही कर लोक दोनो नष्ट-से।
प्राण पीछे रह गये, तन जा-रहा,
दिन उदित, फिर भी तिमिर-सा छा-रहा।
नष्ट-सी थी सोचने की शक्ति-भी,
और जगती-से उठी अनुरक्ति-भी।
भूख के हित स्थान ही अब था कहाँ,
डाल डेरा शोक जो ठहरा वहाँ।

एकादश सर्ग

उमडी पावस, उसी वृक्ष के तले जहाँ सोती रानी,
सदय-सजड तरू की आँखों-से टप टप बरस रहा पानी।
जड चेतन कैसा ही भी हो दया सभी मे सोती है,
सरसाता है रूक्ष शुष्क भी जब वह जागृत होती है।
रानी के उठने से पहले तारो ने मुँह ढाँप लिया,
वन की भावी उथल पुथल को पहले से ही भाँप लिया।
पर, विधि नियम अटल है जग-मे, सुख दुख द्वन्द चला करता,
सब को निज शासन मे रखकर वह निर्द्वन्द छला करता।
साज सजा वह ऊषा रानी, नई नवेली आई है,
उसके स्वागत-हित इस रानी ने भी ली अँगड़ाई है।
देखा जो रानी ने उठकर वहाँ न प्राणेश्वर पाये,
थकित चकित-मृग-शावक जैसे इधर इधर दृग दौड़ाये।
भय चिन्ता से दबा हृदय, धक धक कर बैठा जाता था,
दाँया नेत्र फडक कर, उनके भय - को और बढ़ाता था।
खडग पार्श्व-मे, अर्ध-वसन नृप-का अपने तन पर देखा,
निष्प्रभ रानी हुई निहत सी, ज्यो-प्रभात की विधु-लेखा।
जो न समझना इष्ट उन्हे था समझ गई वे विवश सभी,
किन्तु, सदय आशा ने उनको दिया तनिक विश्वास तभी।
हुए विदीर्ण हृदय-मे पर विश्वास क्षणिक ही जम पाया,
बैठ गई सिर थाम अभागी, आँखो आगे तम छाया।
लेकर खड़ग उठी वे सहसा, इधर उधर फिरकर देखा,
कहाँ नृपति ! वह देख न पाईं, नृप के पद की भी रेखा।
धृत-हरिणी-सी भयाक्रान्त वे, मुख-की आभा पीली थी,
हिड़की बंधी, कमल-सी आँखे अश्रु-धार-से गीली थी।

सुध बुध भूल सभी वे अपनी, क्रन्दन लगी वहाँ-करने,
ईर्ष्या वश, निज शान्ति-सग ही, लगीं शान्ति वन-की हरने।
"जीवनमय! मेरे सुखदायक! प्राणाधिक हे प्राणप्रिय!
मुझे छोड इस-भाँति विपिन - मे, किधर गये बनकर निर्दय।
आओ हे प्राणेश्वर! सत्वर, मुझे बचाओ, दया करो,
हे सत्यव्रत! तडप रही मै, निज दासी की व्यथा-हरो।
छिपे-हुए हो क्यो-पत्तो-मे, निकलो, दृग दर्शन पावे,
ऐसी हँसी न अच्छी होती, जिससे प्राण निकल जावे।
धर्मात्मा विख्यात आप है, सोचो तो अपने मन-मे—
उचित न है मुझसी अबला को, देना छोड विजन वन-मे।
विदित आपकी अनुव्रता हूँ, आप प्राण हो, मै काया,
छोड सका है कौन! भला-यो जीवित रहते निज छाया।
कभी न मैने मन से भी हे नाथ! आपका बुरा किया,
फिर क्यो-यो अपराध-हीन मुझ-सोती ही को छोड दिया।
बिना आपके भी जीवित हूँ, निकले है ये प्राण नही,
वश की बात न है यह मेरे, अबला हूँ, बलवान नही।
पत्र पुञ्ज-मे छिपे खडे तुम, मै भयभीत बुलाती हूँ,
किस कारण से सदय नाथ को इतना निर्दय पाती हूँ।
अ-जल मीन-सी तडप रही मै, बन कर सलिल चले आओ,
तप्तलता-सी सूख रही हूँ, बादल बन इस पर छाओ।
आकर धैर्य मुझे दो स्वामी, विनय पदो मे करती हूँ,
और न इच्छा है कुछ मेरी, ध्यान आपका धरती हूँ,
प्राणाधिके! स्वर्ग - मे भी मै तुम्हे छोड कर रह न सकूँ,
चन्द्रमुखी! पल भर को भी मै विरह तुम्हारा सह न सकूँ।
कहते तुम तो सदा यही थे, कहाँ प्रणय की बाते वे,
और कहाँ है हृदय-खण्डिनी छद्म-भरी अब घाते ये।
हारे थके क्षुधा-से पीडित, किसी वृक्ष-के तले कही—
बैठोगे तब नाथ! अकेलापन क्या - तुमको खले नही।

पड जाओगे भूखे ही जब, मुझे न पाकर व्यथा-भरे,
क्या-गति हो तब नाथ ! तुम्हारी, मुझको यह ही सोच धरे।
इस प्रकार विलपती सती वे, हो विक्षिप्त-समान वहाँ—
रोकर लगी दौडने वन-मे, रहा न उनको ज्ञान वहाँ।
विह्वल होकर गिर पडती थी खडी कभी रह जाती थी,
छिप जाती थी कभी, वेग से नाथ, नाथ, चिल्लाती थी।
सिर के बाल विलम्बित उनके मुख-विधु पर छितराये थे,
राहु-ग्रस्त निष्प्रभ से शशि पर भी वे बादल छाये थे।
लगी खोजने वे हतभाग्या अपना भाग वहाँ वन-मे,
भटक रही थीं, दावानल-सा भडक-रहा भीतर मन - मे।
निकल गई वे दूर विपिन-मे देखा, वह मृगराज खडा,
कहने लगी-उसी से तब वे, रे ! तू है बलवान बडा।
आजा शीघ्र मुझे तू खाले, हो दोनो के कार्य भले,
तुझे क्षुधान्तक युक्ति मिलेगी, मुझे विपद से मुक्ति मिले।
आ-निश्शक ठिठकता है क्यो ! अब तुझको किसका भय है,
रहे न अब वे गये धनुर्धर, निश्चित अब तेरी जय है।
सभव तुझसे मुझे छुडाने हो जावे वे प्रगट यहाँ,
देख रहे हो छिपे हुए वे वीर, विपिन-मे निकट यहाँ।
चला गया तू उधर अरे-क्यों-है तू वज्रकठोर बड़ा,
होता सदय भला क्यो-मुझपर, तू विश्रुत निर्दयी कड़ा।
रानी हूँ मै निषधराज की यदि तू मुझे मार-खावे,
तो फिर उनके कोपानल से तू न सुरक्षित रह पावे।
धन्य, नाथ का तेज, सिह यह अनुपस्थिति मे भी डरता,
है न यदपि वे, तदपि उन्ही का भय मेरी रक्षा करता।
ठहरा तू पशुराज निरा, आकर अपने इस पशु-पन में—
मुझे आज भी उनकी रानी, पागल ! समझ गया मन मे।
हा स्वामिन् ! हा नाथ ! प्राणपति, कहती हुई बढ़ी आगे—
घोर विपिन-में अब जा-पहुँची, अपनी सब सुध बुध त्यागे।

किन्तु अकेला दुख न आता जब जन के दुर्दिन आते,
विपदाओ-के उच्च हिमालय-से, हतभाग्य घिरे पाते ।
एक महाअजगर की साँसो-से वह सहसा खिची चली,
उडी चली मानो, झोके - से क्षुप-छिन्ना असहाय कली ।
"सर्प ! सिह-से सदय रहा तू धन्य, विपद मेरी हरले,
दुख-भरे इस जीवन-को हर, निज उदरस्थ मुझे करले ।
यो-कह मूर्च्छित हुई, काल तब उनको छलने को ही था,
क्षुधातप्त अजगर अग्रिम-क्षण उन्हे निगलने को ही था ।
जिनका काल न आया, उनको मार सका पर, कौन ! कहाँ,
सहसा अप्रत्याशित घटना हुई एक तब मौन वहाँ ।
आकर तीर विषैला सत्वर बीच सर्प-के निकल गया,
चला निगलने हाय ! अभागा, काल उसे-ही निगल गया ।
हुई कृपा यह एक व्याध की. फिर वह अभय निकट आया,
कर उपचार महारानी का, उन्हे होश-मे झट लाया ।
पर, वह व्याध व्याधि-को हर कर महाव्याधि सा हुआ प्रगट,
कर सकट से मुक्त उन्हे, वह बना स-मूर्त्त विकट सकट ।
देख अनिन्द्य रूप रानी का, कामासक्त हुआ सहसा ।
हुई आत्म-विस्मृति सी उसको, वह अनुरक्त हुआ सहसा ।
"मृगशावकनयने ! बोलो तुम कौन ! यहाँ कैसे आई,
भाग्यवान मै, विश्व - रूप की राशि मुझे सहसा पाई ।
कैसे तुम आई हो वन-मे, यो-अनाथ-सी डोल-रही,
सुर-दुर्लभ इस दिव्य-देह को कष्टो-मे क्यो-घोल-रही ।
देवि ! विपिन की देवी हो तुम या तप-क्षीण अप्सरा हो,
नही मानुषी, भटक गई तुम दिव की अजरा अमरा-हो ।
यह सुनकर उससे दमयन्ती ने अपना सब वृत्त कहा,
पर, वह तो कामान्ध हुआ था नही स्व-वश में चित्त रहा ।
"हे सुन्दरी ! न अब तुम चिन्ता करो, न मन-मे भय मानो,
अनाश्रिता अब हो न सुमुखि ! तुम सनाथिनी निज को जानो ।

ये अधनगे पीन पयोधर, अग सुकोमल, विधु-मुख यह,
भौहे कुटिल, कमल-सी आँखे, देगी मुझको सुख रह रह।
समझो मुझको क्रीतदास तुम, भरूँ तुम्हारा मै पानी,
अपनी मधु चितवन से मुझको तनिक देख भर दो रानी।"
"सँभल अभागे! मौन रहो, दुर्वचन न मुझसे बोलो-तुम,
पामर! अपने लिए स्वय-ही, नरक-द्वार मत खोलो-तुम।
मुझे बचाने क्या-तुम आये, काल तुम्हारा ले आया,
देखो, सजग बुद्धि-से, तुम पर मँडराई उसकी छाया।
मुझे न भय है आज मृत्यु-से जीवन से है स्नेह नही,
लुटा छुटा सर्वस्व, विपद ग्रस्ता हूँ कुछ सन्देह नही।
कवल-काल का बन सकती हूँ हँसती हँसती-यही अभी,
किन्तु, मृत्यु से पहले मेरा, शील-हरण हो नही कभी।
मूर्च्छित थी मै मरी-तुल्य ही, छुआ भले तूने यह तन,
किन्तु, सजग हूँ कुछ दुस्साहस, भूल न करना अब दुर्जन!
इस निष्कलुष चरित्र-हेतु मै मोद मान दुख सहूँ सभी,
इसे भ्रष्ट कर, तू तो क्या-मै रहूँ स्वर्ग-मे भी न कभी।"
था कामान्ध तनिक भी उसको, रानी का न कहा-भाया,
क्रुद्ध सर्पिणी के छूने को उसने निज कर फैलाया।
था यह यम को खुला निमन्त्रण, झट विद्युत-सी दमक उठी,
उठी भूमि-से खडग, सती-के कर-में सहसा चमक उठी।
अन्तक-द्वारा अन्तिम उसको महासती ने बोध दिया,
या कुछ क्षण-पहले बाधक से यम ने यह प्रतिशोध लिया।
अनल-शिखा सी हुई प्रज्वलित, धू धू करके व्याध जला,
सती-वैर के महापाप का शीघ्र महाफल उसे मिला।
रक्ताप्लुत ले खड़्ग हाथ में, सती बढ़ी-आगे वन-मे,
तड़प व्याध की देख न पाई, व्याकुल-सी होकर मन-में।
ज्वाला मुख से बरस रही, दृग लाल क्षुब्ध-सी रानी थी,
महिषासुर-वध के हित प्रमटित मानो कुपित भवानी थी।

अब वे एक महावन मे थी, जहॉ अँधेरा-सा छाया,
नाद झिल्लिकाओ का होता, भय न उन्हे पर छू पाया।
इधर उधर वे देख भालकर फिर आगे बढ जाती थी,
हा-निषधाधिप ! हा प्राणेश्वर ! रो रोकर चिल्लाती थी।
नाना विहग वहॉ रव करते, व्याघ्र गजादिक घूम-रहे,
ऋक्ष महिष सिहादि अभय हो स्वेच्छा से थे झूम-रहे।
म्लेच्छ निशाचर दस्यु आदि भी छिपकर रहते थे उस ठौर,
ऊँचे-ऊँचे वृक्ष खडे थे, करते स्पर्श गगन का छोर।
शाल वेणु-धव पीपल तेंदू, इँगुद किशुक और अरिष्ट,
अर्जुन, स्यन्दन शाल्मल जामुन, लोध खैर के तरू बलिष्ठ।
आम्रादिक फल फूल रहे थे, उन पर खिली लता छाईं,
खोज वहॉ-पर अपने प्रिय को महासती आगे आई।
देखी नदियॉ, गुहा भयप्रद, और पर्वतो-की माला,
पल्वल झील तडाग आदि पर प्राणेश्वर देखा भाला।
देखे उसने विहग भयानक, राक्षस उरग पिशाच निरे,
भैसे और वराहो के थे झुण्ड वहॉ सर्वत्र घिरे।
अपने दुख में भूल रही सब, भय न किसी से पाती थी,
आर्य्यपुत्र हे निषधराज, कह कहकर वे डकराती थी।
ढूँढ लिये सारे मे प्रियतम पर, कुछ खोज नहीं पाया,
आॅखे सूज गईं, पैरो-में उनके रक्त उतर आया।
दर्शन हों जीवित रहकर ही, इसीलिए कुछ खा-लेती,
खाना क्या-बस रुक्ष शुष्क, फल फूल जहॉ जो पा लेती।
थक कर एक शिला पर बैठी, लगी विलाप वहाँ करने,
वे देवी अपने क्रन्दन-से लगी महावन-को भरने।
निर्जन वन में छोड़ मुझे तुम नाथ ! कहाँ-क्यो चले गये,
निरपराध सोती को छोड़ा क्या-देवों-से छले गये।
हे पुरुषोत्तम ! नृपति श्रेष्ठ ! तुमने हैं यज्ञ अनेक किये,
सत्यव्रत हो धर्म-भीरू, फिर क्यों-ऐसे अविवेक किये।

हो प्रणवीर किन्तु फिर भी अपना प्रण आज भुलाये हो,
किसी अप्सरा ने हे स्वामिन्! या छल से बहकाये हो।
है पर, यह विश्वास न मुझको, गूँज रही प्रिय! वह वाणी,
मुझसे अधिक सुन्दरी तुमने कौन! कहाँ जग मे मानी।
देखो, फिर शार्दूल इधर यह चला बुभुक्षित आता है,
अपनी पैनी हिम-सी उज्ज्वल यम-द्रंष्ट्रा दिखलाता है।
हो मेरे सर्वस्व प्राण तुम क्यो न मुझे उत्तर देते,
रो रो तुम्हे पुकार रही हूँ, क्यो-न सदय हो सुध लेते।
हे पृथुलोचन! हे अरिकर्षण! देखो मेरी तनिक दशा,
यूथ-भ्रष्ट हरिणी-सी हूँ, मै दीना हीना दुखी कृशा।
बारम्बार बुलाती हूँ मै, नही बोलते हो स्वामी!
इस पर्वत-पर दृष्टि न आते, हुए किधर किस पथ-गामी।
हे सिहो! हे व्याघ्रो! बढकर तुम स-प्रेम चले आओ,
मेरे प्रियतम कहाँ मिलेगे, मुझे दया कर बतलाओ।
अब नित कौन, विपद ग्रस्ता को मुझे सुनावे मधु-वाणी,
कौन, कहेगा मुझे प्रेयसी, प्राणाधिक-प्रिय-कल्याणी।
ओ शार्दूल! खडा है क्यो-तू मै दमयन्ती भीमसुता—
निषधराज को खोज रही हूँ, दे कुछ उनका मुझे पता।
अरी! सरित तू ही बतलादे, बडी दूर से आती है,
अपने प्रिय को पाने के हित लहराती-सी जाती है।
निषधराज क्या-तूने देखे, दिया कही उनको पानी,
करदे दया बहन! तू मुझ-पर, मै उनकी ही हूँ रानी।
राजहस! तुम आज कहाँ हो, तुम पर बलि बलि जाऊँगी,
मेरे प्रिय का पता बता दो, मुक्ता तुम्हें खिलाऊँगी।
तुमने मुझे कहा-था देवों से भी अधिक गुणाकर वे,
क्यों-न मुझे अब धीरज देते महाविपिन-में आकर वे।
ओ गिरिराज! खड़े तुम ऊँचे, दृष्टि दूर तक जाती है,
जल थल तुमको दीख रहा सब, तुम्हें दया-भी आती है।

हे शरण्य, कल्याण देव! मेरा प्रणाम स्वीकार करो,
भीमनन्दिनी दमयन्ती मै मेरा तुम ही कष्ट हरो।
पराक्रमी है धीर वीर वे, वीरसैनि मेरे स्वामी,
है आजानुविशाल बाहु वे, सद्गुण-युक्त सुपथ-गामी।
मुझको अपनी सुता समझकर, धीरज दो स-करुण गिरिराज!
मेरे पति का पता बतादो, उनको खोज रही मै आज।
नही बोलता पर यह गिरि तो, हे धर्मज्ञ! तुम्ही आओ,
बहुत विलाप कर चुकी अब मै, कृपया स-करुण हो जाओ।
दर्शन देकर हे प्राणेश्वर! मुझे अङ्क भर भेटो तुम,
अपनी लम्बी उष्ण भुजो-मे आकर अभी लपेटो तुम।
अपनी उस गभीर स्निग्ध-श्रुतिहर, घन-जैसी मधुवाणी—
से प्राणेश्वर मुझे पुकारो, भीमसुते! हे कल्याणी!
डरो न तुम, मै निकट खडा हूँ, मुझको यही सान्त्वना दो,
जो कुछ मुझसे कहा हस ने, नाथ! सभी पूरा कर दो।
लेट गईं वे वही शिला-पर थकित भीत थी निराश्रिता—
(लगी देखने दृश्य तभी यो - भीमनन्दिनी पतिव्रता।
तीन दिनो-तक चलते चलते उन्हे एक आश्रम पाया,
थे भृगु अत्रि वशिष्ठ आदि ऋषि व्यापे जिन्हे न जग माया।
वल्कल वस्त्र और मृग छालाधारी, ऋषि-मुनि लोग वहाँ,
थे स्थित प्रज्ञ, निराहारी कुछ, पत्र-वायु ही भोग जहाँ।
देखे भैमी ने आश्रम मे, अभय हरिण क्रीडा करते,
दर्शन-पूत महामुनियो के, महा व्याधि जन की हरते।
उनके पहुँच निकट रानी ने, सविनय उन्हे प्रणाम किया,
हो प्रसन्न मुनियों ने उसको स्वस्तिवाद स-प्रेम दिया।
बैठ-गई रानी आज्ञा ले, अति विनम्र यों थी वाणी,
भीमनन्दिनी दमयन्ती मै निषध-देश-नृप की रानी।
कहो देव! निर्विघ्न आपका जप तप तो सब चलता है,
बाधा तो कुछ प्राप्त न तुमको, धर्म ठीक ही पलता है।"

"हाँ भद्रे ! स-कुशल है हम सब, अब तुम अपना वृत्त कहो,
हो यदि सेवा योग्य हमारे, शीघ्र कहो, मत व्यथा सहो !
श्रेष्ठ-रूप इरा परम-कान्ति को देख सभी हम विस्मित थे,
वन-देवी गिरिकन्या तुमको समझ अभी हम विस्मित थे।"
"देव ! पूज्य-पति है मेरे धर्मज्ञ, गुणी-ज्ञानी-मानी,
फिरूँ खोजती उन्हे विकल मै, यह सब विपिन धरा छानी।
गिरि-नद नदी सरोवर देखे, झील और निर्जन वन भी—
भटक रही हूँ अहोरात्र मै, पा न सकी पर उन्हे अभी।
यह देखो, मेरे पैरो-मे पडकर फूट गये छाले,
यही कदाचित आ न गये हो श्यामल-मेघ कान्ति वाले।
यही सोचकर पुण्य-तपोवन-मे मै आई, पूछ-रही,
हो सर्वज्ञ तात ! तुम उनका मुझे बतादो भेद सही।
उनके बिना व्यर्थ जीवन है, विरह-मे न जी पाऊँगी,
पा न सकी यदि प्राणेश्वर-को तो जीवित जल जाऊँगी।"
"धीरज धरो, शान्त हो वत्से ! शोक न यो-मानो, मन-मे,
पा जाओगी निषधराज को, फिर तुम थोड़े ही दिन-मे।
होंगी विपदा दूर तुम्हारी, फिर से बनो महारानी,
अपने पति-के संग पूर्व-सा सुख भोगोगी कल्याणी।
अपनी दिव्य दृष्टि के बल से हाल सभी हमने जाना,
हुआ भीमजे ! श्रेयस्कर ही यहाँ तुम्हारा अब आना।")
सहसा आँखे खुली सती की, जगकर स्वप्न याद आया,
तनिक देर तो रही विमोहित, पर फिर शोक वही छाया।
चली विवर्णा वे आगे-को करती हुईं करुण-क्रन्दन,
हूक महादेवी की सुनकर, उद्वेलित था सारा वन।
चलते चलते महासती ने एक अशोक वृक्ष देखा,
मधुर वचन बोलीं, उससे वे वैदर्भी की कृश रेखा।
फूले हुए महातरु हो तुम, नाना खग-रव करते हैं,
शोकित जन तेरी छाया में बैठ, शोक निज हरते हैं।

आई मै तरु-भिन्न लता-सी विटप ! यहाँ शोकित होकर,
शान्ति मुझे दो वृक्षराज ! तुम मेरा शोक सभी खोकर।
बतलाओ तो वे पृथुलोचन देखे तुमने यहाँ कही,
अरे अभागे ! मूक खडा क्यो-देता उत्तर मुझे नही।
निषध देश के स्वामी है वे पहने अर्ध-वसन तन-पर,
जड तरु ठहरा, सदय भला तू क्यो-होगा शोकित जन-पर।
यह कह सती बढी आगे को दुर्गम स्थानो-पर होती,
हा निषधेश ! नाथ हा ! कहती जाती थी रोती रोती।
बहु नद नदी झील तरु देखे, गिरि की अगम कन्दरा भी,
भूख प्यास तो दूर, न उनको छू-पाती थी तन्द्रा भी।
किन्तु न मिले उन्हे प्राणेश्वर गदजुष्टा-सी और बढी,
देख एक ऊँचा-सा टीला, उस पर भीमात्मजा चढी।
सम्मुख महानदी बहती थी लम्बा चौडा फॉट किये,
झष कच्छप ग्रह आदि मुदित जीवो को अपनी गोद लिये।
उसके तट पर सार्थवाह का शिविर लगा लम्बा चौडा,
चिर दिन पीछे देख जनो-को, धैर्य मिला उनको थोडा।
विक्षिप्ता-सी सती शक्ति वे सत्वर उनके निकट गई,
मोद-मग्न जन देख वहाँ-पर मिली ज्योति-सी उन्हे नई।
हाथी खडे हीसते घोडे, पक्ति-बद्ध सज्जित रथ थे,
उज्ज्वल तने वितान चमकते, जिनके बीच छुटे पथ थे।
उलझे-बाल धूल-से पूरित, सूजी आँखे, अर्ध-वसन—
बुरी दशा थी यशस्विनी की घेरे था प्रिय-शोक-व्यसन।
दीना हीना और विवर्णा मलिन-मूर्त्ति को पा आगे—
समझ उन्हे उन्मत्त रोगिणी, कुछ जन भीत-हुए भागे।
कुछ ने हँसी-उडाई उनकी, निन्दास्तुति भी हुई वहाँ,
सदय पूछ ही बैठे कुछ जन शुभे ! कहो, तुम कौन यहाँ।
मलिन वेश मे देवी हो तुम, यक्षी हो, या जो भी हो,
रक्षा करो हमारी भद्रे ! कुछ कहना तो शीघ्र कहो।

तुम्हे देख पीडा होती है, मन में भय भी जगता है,
कुछ अनिष्ट होने को ही है बरबस ऐसा लगता है।
सार्थवाह वे शुचि स्वामी है चलो, तुम्हे ले चले वहाँ,
जो कुछ भी हम-कर सकते है, करे तुम्हारी सेवा-हाँ।
शुचि स्वामी के निकट पहुँच कर नलप्रिया की बढी व्यथा,
रो-रोकर उन पतिव्रता ने कह दी अपनी सभी कथा।"
"रीछ महिष हाथी सिहो के, हमने देखे झुण्ड बड़े,
नल नामक निषधेश न भद्रे ! कही हमारी दृष्टि पडे।
पुरुष न हमको मिला कही भी जब से हम आये वन-मे,
होगा प्रिय-कल्याण तुम्हारा, देवी व्यथित न हो मन-मे,
चारु चेदि जनपद को प्रात काल शुभे ! हम को जाना,
तुम भी साथ हमारे चलना, व्यर्थ यहाँ है दुख पाना।
भद्रे ! सार्थवाह हूँ मै ही, खा पीकर तुम सो जाओ,
रक्षक हो मणिभद्र हमारे देवि ! न अब कुछ भय पाओ।
अगले दिन उस सार्थवाह के साथ बढी नल की रानी,
वन-पथ-गिरि नद चली देखती, मिले न पर उनको मानी।

-

कुछ दिन पीछे एक विपिन में सार्थवाह जाकर ठहरा,
कमलाच्छादित जल-जीवों-से युक्त सरोवर था गहरा।
हारे थके मनुज खा पीकर थे निद्रा-मे लीन हुए,
कौन, जानता था वे जग-से सदा सदा को हीन हुए।
अर्ध-निशा बीते पर वन्य-गजों-का यूथ वहाँ आया,
सम्मुख उसने पले-गजों को बैठे और खड़े पाया।
भूल गये पानी पीना वे, क्रोधित उन पर टूट पड़े,
लगे पदों-से सबको दलने मानो, भूधर छूट पडे।
ग्राम्य गजो से भिड़े, युद्ध मानो छिड़ गया पहाड़ो-मे,
उठ उठकर जन लगे भागने, छिपे झाड़ झखाड़ों-मे।

-

भीषण-तुमुल-रुदन-रव छाया हाहाकार मचा क्षण-मे,
व्याप्त दिशाओं में होकर वह क्रन्दन फैल गया वन मे।
मृत-हय-हाथी अडे मार्ग-में, ऊँट समाधि-विलीन हुए,
मरे कुचल कर मनुज बहुत से, कुछ कर-पद से हीन हुए।
होती थी चिघाड गजो-की, शुन्डाशुन्डि छिड़ा रण-था,
प्राण बचाकर भागे कुछ जन, छूट पड़ा बिखरा धन था।
हुए वहाँ अधिकाश निहत जन, कुछ थोडे ही शेष रहे,
दौडो, भागो, हाय बचाओ, आदि शब्द थे वहाँ बहे।
वैदर्भी ने प्रलय-तुल्य यो-दृश्य न था पहले देखा,
भाग उठी भीता त्रस्ता हो शरच्चन्द्र की सी रेखा।
शेष बचे लोगो को तब उन हतभाग्या पर रोष रहा,
इस सारी ही दुर्घटना का उस देवी ने दोष सहा।
हृदय-थामकर सोच रही वे, स्पन्द हुआ जिसका धीमा,
हाय ! विपत्ति, विश्व-मे तेरी रची न विधि ने क्यो-सीमा।
भावी के वे खेल बचे क्या, जो न गये मुझ से खेले,
रहे धरा पर कष्ट कहाँ वे, हाय न जो मैने झेले।
झगडा प्रथम हुआ देवो से राजपाठ फिर गया सभी,
भूखी प्यासी भटकी वन-मे, किन्तु विपद थी शेष अभी।
होकर खिन्न अभागी को प्राणेश्वर ने भी छोड दिया,
सुर-साक्षी थे, ऐसा प्रण भी, सत्यव्रत ने तोड दिया।
अजगर मिला न वह खा पाया, महापाप वह व्याध मिला,
और आज ये निहत हुए सब, बैठी मै रह गई शिला।
नही निकलते प्राण अभागे, कैसे करूँ, कहाँ जाऊँ,
बहुत बड़ा ससार खोजकर प्रिय को मै कैसे पाऊँ।
अरे स्वप्नविश्वास ! मुझे तो तू ही आज जिलाता है,
घोर तिमिर मे आज तुझी से कुछ प्रकाश पा जाता है।
मन वाणी या देह कर्म से दुख न किसी को पहुँचाया,
निश्चय मैने पूर्व जन्म के पापो का यह फल पाया।

उन्ही सुरों की माया है सब, किन्तु न मार्ग तजूँगी मैं,
प्राणेश्वर को पाकर, अपना भर सौभाग्य सजूँगी मै।
शेष बचे वेदज्ञ विप्र कुछ, जिन्हे न था यम ने निगला,
चन्द्र-समान उन्ही के पीछे, चली मोहिनी चन्द्रकला।
चेदी जनपद-में जा पहुँचे, नृप सुबाहु थे जहाँ सुजन,
विप्रों से भी बिछुडी देवी, था शोकार्त्त सती-का मन।
आधा तन वस्त्रावृत उनका, रुखे सूखे बाल पड़े,
जटा-जाल सा बन कर बिखरे, इधर उधर स्वच्छन्द बडे।
दीन हीन कृश शुष्क लता-सी, चली नगर मे वे जाती,
गति भी विक्षिप्ता-सी उनकी, बोध न थी कुछ भी पाती।
प्राणेश्वर की मूर्त्ति हृदय-मे, नाम उन्ही का थी जपती,
चलता फिरता ताप भरा तप, थी वे तपस्विनी तपती।
कर-तल-रव कर पीछे बालक 'पगली पगली' चिल्लाते,
देवी-पर रज-कङ्कड नटखट पुष्प तुल्य वे बरसाते।
स्थितप्रज्ञ-सी महायोगिनी रोष न थी पर कुछ लाती,
मुड़कर भी न देखती पीछे सब कुछ सहन किये-जाती।
विगत भान, प्रिय-ध्यान-मग्न अब खडी जहाँ वे कल्याणी,
राजभवन-से देख रही थी बैठी उन्हे महारानी।
देवी-की उस दिव्य प्रभा से, उनका हर्षित हुआ हिया,
उनको भीतर ले आने का, दासी को आदेश दिया।
देवी के आने पर उनसे, वीणा-सी बोली रानी,
मलिन वेश विक्षिप्त-दशा-में कौन, देवि ! तुम कल्याणी !
हाय, विपद यह तुम पर कैसी, तन ढकने को वस्त्र नही,
स्व-जन तुम्हारे नहीं रहे क्या - प्राणेश्वर भी गये कही।
नही खोजने से भी पाती, तुम सी परम-कान्ति जग - में,
देवी हो तुम वेश बदलकर निश्चय, घूम रही मग-मे।
भूल रही हो किन्तु शुभे ! यह धन्य रूप ! जो छिपे नही,
तृण पत्रो-मे दबे पुष्प-का सौरभ क्या-छिप सका कही।

महासती ने रोकर उनसे कही सभी निज कष्ट कथा,
समागता का वृत्त जानकर रानी को बढ चली व्यथा।
भीमसुता मै दमयन्ती हूँ, तपस्विनी जब यो-बोली,
हर्षोन्मत्ता रानी ने उठ, भरली तब उनकी कौली।
"हाय अभागी दुखिनी बिटिया! तुझ पर कैसी विपद पड़ी,
लिपटी रहो हृदय से मेरे मुझे शान्ति मिल रही बडी।
मेरी भगिनी की तू पुत्री, नृप दशार्ण की मै बेटी,
नैषध रानी होकर भी तू रही भाग्य-की यो-हेटी।
तेरी खोज मची है बेटी! यहाँ, वहाँ, सब जगह अरी!
झन्झावातो-से टकराकर तट-पर आ-ही गई तरी।
सुख से रहो यहाँ तुम वत्से! भीति न अब कुछ भी मानो,
अपनी माँ तुम मुझको समझो, इसे पिता का घर जानो।
समाचार तेरे पाने का कुण्डिनपुर पहुँचाती हूँ,
हर्ष न आज समाता तन मे, दबी भार से जाती हूँ।
तू आई, वे भी आवेगे, मुझे न कुछ सन्देह रहा,
धीरज धर, ईश्वर का जप कर, अब न दृगो-से अश्रु बहा।
तप्त धरा के भीषण तप को, मेघ बरस धोता ही है,
अटल नियम, ऊषा-के पीछे, सूर्य उदित होता ही है।
मज्जन करलो, वस्त्राभूषण अभी यथेष्ट मँगालो तुम,
भूखी हो बेटी कब कब की, भोजन सत्वर पालो तुम।
मेरी सुता सुनन्दा है, अब कुछ दिन उसके साथ रहो,
फिर कुण्डिनपुर पहुँचा-दूँगी, वत्से! अधिक अधीर न हो।"
बहुत समय मे सुनी सती ने मधु-सी स्नेह सनी वाणी,
सिसक सिसक कर रोती थी वे टप टप बरस-रहा पानी।
गोदी में मुख रख रानी की भिगो-दिया आँचल सारा,
मिली हुई सी शोभित थी वे दो सरिताओ की धारा।
लता सदृश थरथर कम्पित थी, देवी का विह्वल था मन,
चिर दिन पीछे प्राप्त हुए थे आज उन्हे अपने प्रिय-जन।

गला भरा था किन्तु उन्होने वहाँ सुधा-सी घोली ही,
धीरज धर कर वे पिक जैसे मधुर वचन यो-बोली ही ।
अम्ब ! तुम्हारी अनुकम्पा है दुख से तनिक पार पाया,
आज मिली यह मुझे शान्ति-सी जब से विपद ज्वार आया ।
दुर्दिन बीते से लगते है और सुदिन आवेगे ही,
मेरा भी विश्वास यही है वे मुझको पावेगे ही ।
ऐसे ही रहने दो मुझको जैसो रूखी सूखी हूँ,
सच समझो माँ ! वस्त्राभूषण की मै आज न भूखी हूँ ।
काषायिक ही धोती दे दो जिससे यह तन ढक जावे,
कही पडे होगे वे भूखे, यह पतिता यो-छक जावे ।
हिडकी सी बँध गई रुकी वे सती सँभल कर फिर बोली—
दीख-रही थी यूथ-प्राप्त-सी हो मानो हरिणी भोली ।
जीवित तो रहना ही होगा करने है उनके दर्शन,
माँ ! पर व्रत मै तोड न सकती, राजभवन भी होगा वन ।
तुमसे मिलकर आज अभागा दाह शान्त-सा है उर का,
यदि हो विदित, बताओ तो तुम वृत्त मुझे कुण्डिनपुर का ।
दमन दान्त दम भैया मेरे, और पिता स-कुशल तो है,
मेरी वे पुण्या माँ-कहदो स्वस्था और सबल तो है ।
वे दो लघु से भाग्य हीन शिशु कहो अम्ब ! जीते भी है,
नाना के घर वे अनाथ से कुछ खाते पीते भी है ।"
"हाँ-बेटी सब कुशल वहाँ है, वृत्त मुझे विज्ञात सभी,
क्षेम भरे भैया, शिशु तेरे, हैं अदीन माँ-तात अभी ।
चिन्ता एक, सभी को तेरी बस दिन रात जलाती है,
तेरी स्मृति उन सब के तन मे निकल तीर-सी जाती है ।
पर, अब तेरा आना सुनकर उससे, उनको मुक्ति मिले,
तेरे पति को पाने की भी आशा है, कुछ युक्ति मिले ।
सुनकर यह सब वृत्त सती ने मानो लुप्त-कोष पाया,
मज्जन किया, हुआ निर्मल तन, मन ने तनिक तोष पाया ।

काषायिक ही धोती पहनी, थी कृशकाया योगिन वे,
धिकल सका कब भोजन मुख मे, बनी गृहस्थ अभोगिन वे,
समाचार उनके आने का सुनकर सभी मुदित-मन थे,
पर, वे तो खोई सी रहती, दूर अभी जोवन धन थे।
कुण्डिनपुर मे वृत्त गया तो, वहाँ अपार हर्ष छाया,
सब ने जप तप व्रत का मानो मूर्त्त-मनोरथ-फल पाया।

पुर ज्योति हमारी कब आवे,
हम सब विधु-से दर्शन पावे।
उन यशस्विनी के पथ को तब,
उत्सुक हो देख रहे थे सब।

द्वादश सर्ग

व्याकुल निषधराज जाते थे, भागे-से बीहड वन-मे,
घृणा स्वय से, रानी-दुख से, वे अति तापित थे मन-मे।
साँझ हुई, फिर प्रात आया, किन्तु न भूप कही ठहरे,
चिन्तोदधि मे उतर रहे वे शोक-ग्रस्त होकर गहरे।
नृप ने आगे वन-मे देखा, भडक रहा था दावानल,
जला रहा वह एक छोर से, जो भी मिलता सचल अचल।
कड कडकर मानो दाँतो-से चबा सभी को जाता था,
लप लप कर वह लपट-व्याज से निज जिह्वा दिखलाता था।
भड भड कर जल रहे वृक्ष मब, शिला खड भी पिघल रहे,
धर निज-रूप अनेक वहाँ ज्यो, यम सबको ही निगल रहे।
तडप रहे वन जीव अनल-मे, निकल न कोई पाता था,
जिधर भागता, उधर स्वय को घिरा अग्नि-से पाता था।
वायु, धूम को उठा धरा-से, नभ-मे दूर धकेल रहा,
अरुण विपिन, रञ्जित अबीर से, मानो होली खेल रहा।
नाना-जन्तु तडप, रव करते, जल जाते कुछ ही क्षण-मे,
आक्रन्दन, आक्रोश व्याप्त था, जिससे सारे ही वन-मे।
क्षण भर रुककर वहाँ नृपति ने वह सब महानाश देखा,
महामृत्यु के महावक्त्र का या वह महाग्रास देखा।
क्रीडा करते दावानल को देख रहे जब भूप खडे,
तभी निकट ही "हाय बचाओ" उनके कानो शब्द पडे।
आर्त्त-पुकार गई कानो-तक, उधर आर्त्त-पर दृष्टि पडी,
दौडे नृप आबद्ध हुए से, थी पुकार ज्यो रज्जु बडी।
यद्यपि वहाँ पहुँचने मे तब प्राणो को था भय भारी,
किन्तु, उपेक्षा पीड़ित-रव की कर न सके वे-व्रत-धारी।

पीडित-रक्षा-हेतु, वीर नृप ज्वलित अग्नि-मे ही पैठे,
देखे बँधे-हुए से तब, कर्कोटक नागराज बैठे।
कठिन उन्हे हिलना डुलना था, जले अग्नि मे जाते थे,
'हाय बचाओ', 'हाय बचाओ' विवश पडे चिल्लाते थे।
ओह, झुलसकर दावानल से सज्ञा थी अब लुप्त हुई,
चिल्लाने तक की भी उनकी शक्ति सभी ज्यो-सुप्त हुई।
निर्भय नृप ने कुछ जल-कर भी, उन्हे अग्नि-से उठा लिया,
दूर सुरक्षित जगह तभी ले जाकर जीवन दान किया।
नृप से तब कर्कोटक बोले-हो प्रबुद्ध, हर्षित मन-मे,
राजन् ! मेरे प्राण बचाये तुमने आज ज्वलित-वन-मे।
नागराज मै कर्कोटक हूँ, नारद से अभिशप्त हुआ,
बहुत दिनो-से पडा सजड-सा, विपिन दुखो-से तप्त हुआ।
कहा-उन्होने, जब नल तुमको साश्रु-वदन हो स्पर्श करे,
अग्नि-तप्त तब अङ्ग तुम्हारे अपनी जडता सभी हरे।
आप्त महर्षि, भला वह उनका सत्य न क्यो होता कहना,
सुदिन दास के आ पहुँचे अब, बीत गया दुख का सहना।
निषधराज ने स्वयं उठाया, धन्य ! आज मै हुआ सुकृत,
धन्य वीर निषधेश ! आपका सेवक है यह अति उपकृत।
निषधराज है आप वीरवर निश्चय मैने मान लिया,
अपनी शाप-मुक्ति से ही मैने तुमको पहचान लिया।
आज्ञा दो अब राजन् ! मुझको, मै कुछ प्रत्युपकार करूँ,
जीवनदाता की सेवा कर, कुछ तो हल्का भार करूँ।
कर न सका यदि मै कुछ सेवा, व्यर्थ, अधम तब यह जीवन,
शीघ्र कहो, क्यो-दुखी हुए हो, व्याकुल-सा लगता तन-मन।
नागराज-से, व्यथित नृपति ने अपना वृत्त कहा सारा,
कहते कहते निषधराज के बही दृगो-से जल-धारा।
मित्र ! तुम्हारी बाते सुनकर मैने तनिक धैर्य पाया,
वन मे सोती पत्नी को मै, एकाकिनी छोड़ आया।

पतिव्रता वे पूर्ण-सती है सुन्दर चन्द्र समान खिली,
देवाप्राप्या कमलदृगी वे, पापाधम को मुझे मिली।
रक्षा हाय! कहाँ कर पाया मै अपने ऐसे धन की,
व्यथित हुआ हूँ सर्प-दश-सा, व्याकुलता यह ही मन-की।
निज व्रत के अनुसार मुझे अब दास किसी का होना है,
उसी-वृत्ति का ही तप करके कलुष स्व-कुल से धोना है।
पर, यह रूप बना है बाधक, कैसे कहाँ छिपूँ जाऊँ,
युक्ति बतादो मुझे बन्धु! कुछ, व्रत-से यथा पार पाऊँ।
सच है, चितवन चिन्ता देती, ममता को फलती माया,
छोड चुका दोनो को मै, अब अपनी ही छलती काया।
महापाप कर चुका अधम मै मुक्ति न उससे पाऊँगा,
विषम कु-फल सहने ही होगे, कैसे मुँह दिखलाऊँगा।
हाय! विलखती सती विपिन मे, अब क्रन्दन करती होगी,
भयाकुला वे विपिन-दुखो को देख देख मरती होगी।
घोर पाप भी, यदपि विवश मैने उनके ही हेतु किया,
सदा सदा के लिए शीस पर अपयश का यह भार लिया।
फिर भी मुझे कृतघ्न समझती होगी वे असहाय वहाँ,
भटक रही होगी वन-वन-मे वे अबला निरुपाय वहाँ।
स-कुशल वे कुण्डिनपुर पहुँचे नागराज! ऐसा वर दो,
इसी ताप से तप्त हुआ हूँ, व्यथा यही मेरी हर दो।
ऐसी युक्ति बता दो, जिससे मुझे न कोई जान सके,
करूँ पूर्ण व्रत, गुप्त-रहूँ मै, जन न मुझे पहचान सके।
दोनो कार्य न यदि कर सकते, तो पहला ही करो सखे!
परम पुनीता उन भीता की, व्यथा भीति सब हरो सखे!
अपने पर जो भी बीतेगी, मित्र! सभी मै झेलूँगा,
उन देवी-के दुख का भी मै भाग स्वय ही लेलूँगा।
तपस्विनी के उस तप बल से ही ये इतने दिन बीते,
इतने ताप विगत हैं तो, दुखार्णव रहे न बिन-रीते।"

"धन्य मित्र! तुम धन्य, तुम्हारे है ये ऊँचे भाव बडे,
धीर वीर के सम्मुख जग-मे रह सकते कब विघ्न खडे।
है क्या-ये दो कार्य भला, जो तुमने मुझे बताये है,
समझो, उन दोनो के फल, नृप-चरण-चूमने आये है।
वे देवी, स-कुशल अपने घर पहुँचेगी सन्देह नही,
उनका रक्षक स्वय, तुम्हारा होगा पूत-स्नेह वही।
और सामने देखो वह जो जडी दृष्टि-मे आती है,
पीत पुष्प को गोदी-मे भर, लहर लहर लहराती है।
इसे पीसकर मिला सलिल-मे फिर उससे तुम स्नान करो,
तीन दिनो-तक खाकर इसको प्रात, फिर जल-पान करो।
काया का परिवर्तन हो तब तुम्हे न कोई जान सके,
अन्तरङ्ग भी मित्र तुम्हारा, तुम्हे न फिर पहचान सके।
जब भी इसका इसी भाँति तुम फिर से सेवन कर लोगे,
तभी अनिन्द्य रूप यह अपना अनायास ही धर लोगे।
इसके सेवन से हे राजन्! कभी न भय तुम पाओगे,
होगे दूर अमङ्गल सारे और विजय पा जाओगे।
यह बूँटी इस विपिन भाग-मे, या इस गिरि पर होती है,
पतिव्रता की दृष्टि किन्तु, इसकी माया को धोती है।
उससे सदा सजग रहना तुम, चले अयोध्या मे जाना,
'बाहुक' नाम पहुँचकर अपना राजा से तुम बतलाना।
गुणी स्वय तुम, कार्य तुम्हे वे, दे ही देगे जाने पर,
दु ख तुम्हारे अपगत होगे, पार अवधि का पाने पर।
राजपाठ धन धान्य सुता सुत पतिव्रता अपनी नारी,
प्राप्त सभी ये तुमको होगे खिली हुई सी फुलवारी।
हाँ, यदि बन्धु! चाहते हो तो ऐसी युक्ति बताऊँ मै,
तुम्हे, तुम्हारी वैदर्भी से स-कुशल शीघ्र मिलाऊँ मैं।"
"नही बन्धु! व्रत पूर्ण न होगा, पाप न यो धो पाऊँ मै,"
पाप शान्त हो, प्रण-पालक भी तब न सखे! हो पाऊँ मै।

सुखिनी हो वे, मित्र ! मुझे तो यह सब दुख सहना ही है,
पूर्ण अवधि तक दास अयोध्या मे बनकर रहना ही है।
अति उपकृत मै हुआ, सुजन प्रिय ! बडे भाग्य से पाये हो,
मेरे पुण्य मूर्त्त ही होकर नागराज ! तुम आये हो।
मित्र ! सान्त्वना पाई तुमसे जिसने चिन्ता-भीति हरी,
मेरी रानी कुण्डिनपुर-मे पहुँच सकेगी क्षेम-भरी।
तदनन्तर हो विदा, परस्पर भूपति चले महावन-मे,
चिन्ता, आशा, भय, विश्वास सभी थे साथ नृपति मन-मे।
सेवन करते रहे मार्ग-मे नृप उस बूँटी को लेकर,
जाते थे अविराम चले वे जैसे तैसे ले देकर।
देखी नृप ने चलते चलते बूँटी-की अद्भुत माया,
अब नलराज न लगते थे वे बदल चुकी थी सब काया।
दश दिन मे उस विपिनार्णव-से अपनी नौका को खेकर—
पहुँच गये सरयू-तट, 'बाहुक' नाम स्वय को नृप देकर।
कर मज्जन, जल पान नृपति ने मानो विपिन-कलुष धोया,
अमरपुरी-सी पुरी देख थे मुग्ध, सकल पथ श्रम खोया।
विस्तृत, सुन्दर सुखद स्वच्छ थी जन-परिपूर्ण महानगरी,
विश्व-सिन्धु का पूर्ण-विभव मानो, थी गोद-भरे गगरी।
अवलोकन कर पुरी अयोध्या का बाहुक अति मुदित हुए,
मोद-भरो फिर राजसभा मे, वे विस्मय-से उदित हुए।
नृप ऋतुपर्ण राज-आसन पर शोभित होते थे ऐसे,
नभ-मे नक्षत्रो से घिर शशि, छिटकाता है छवि जैसे।
मलिन वेश वह कृष्ण रूप जन, नृप ने निज सम्मुख देखा,
खिची हुई सी खिले गगन-मे, कृष्ण-घटा की सी रेखा।
"कहो, भद्र ! क्या-नाम तुम्हारा, आने का भी हेतु कहो !
किसी विलक्षण जनपद के तुम, लगे निवासी मुझे अहो !
यदि मुझसे कुछ कार्य बने, सकोच छोडकर बतलाओ,
अपना ही जनपद यह समझो, भय-सशय कुछ मत पाओ।

प्रणति-पूर्व बाहुक विनयी हो लगे नृपति से यो कहने--
हे सम्राट् ! चला आया मै, होकर दास यहाँ-रहने।
दाक्षिणात्य जनपद से आया बाहुक नामक मै जन हूँ,
स्व-जन-मुक्त मै, विपद ग्रस्त हूँ, इससे ही क्लेशित-मन हूँ।
सचिव सखा सेनानी से ले कार्य दास तक के सारे--
कर सकता हूँ बडी दक्षता से मन-मे धीरज धारे।
पाक-शास्त्र मे मुझसा पण्डित नही खोजने से पावे,
एक ग्रास-मे सभी रसो-का, हे नृप ! स्वादु तुम्हे आवे।
यद्यपि सच है, आत्म-प्रशसा विज्ञ न करते भूल कही,
किन्तु, अपरिचित जन के आगे कहना पडता हाल सही।
हय-विद्या मे परम-विज्ञ, मुझसा न मनुज नृप ! पा सकते,
अश्व-परख मे देव दनुज भी तुल्य न मेरे जा सकते।
उच्चैश्रवा-समान हयो-से, हयशाला भर सकता हूँ,
वायु-तुल्य अश्वो की गति, हे राजन् ! मै कर सकता हूँ।
दशो भौरियो से विशुद्ध, शतपदी कुलीन श्रेष्ठ घोडे--
गति-मे गरुड समान, किन्तु जो लगे देखने मे थोड़े।
शतयोजन अविराम, भूप ! जो, जा सकते है बिना थके,
सिन्धु देश मे होते वे, साधारण मनुज न जान सके।
कुछ दिन यहाँ निवास करूँ, फिर अपने घर चल दूँगा मै,
बदले मे हे राजन् ! कुछ भी धन न आप से लूँगा मै।
जीवित रहने के हित, एक समय ही भोजन करता हूँ,
लाज-निवारण हेतु एक ही वसन देह पर धरता हूँ।"
"हे बाहुक ! तुम-सा जन पाकर मै स्वयमेव कृतार्थ हुआ,
व्याज तुम्हारे से हे आगत ! प्राप्त मुझे परमार्थ हुआ।
किसी भाँति का कष्ट न होगा, करो निवास क्षेम से तुम,
हयशाला को करो समुन्नत हे प्रिय बन्धु ! प्रेम से तुम।
मेरे अन्तरङ्ग मित्रो-मे गिने आज से जाओगे,
दश सहस्त्र स्वर्णिम मुद्राये मासिक वेतन पाओगे।

हय-विभाग के अधिपति पद-पर अपनी अब नियुक्ति जानो,
अपने श्रेष्ठ गुणो का ही हे भद्र ! मान यह तुम मानो ।"
"आभारी हूँ भूप ! आपका, पर कुछ द्रव्य न लूँगा मै,
मेरा कुछ व्रत, राजन् ! उसको भङ्ग न होने दूँगा मै ।
बढी हुई आवश्यकताये बनती कष्ट निमित्त सदा,
बडा अनर्थ कराता आया, जन से दुर्दम वित्त सदा ।
इस माया के कारण राजन् ! बहुत कष्ट मै उठा चुका,
अब यह अपनी ओर तनिक भी मुझे न सकती कही झुका ।
अन्य, एक दो जन भी, ऐसा व्रत ले, मेरे अनुगत है,
मुझी अभागे के कारण नृप ! महादुखो से वे धृत है ।
जब तक उनको पूर्व-तुल्य ही प्राप्त न सुख हो जायेगे,
जब तक तप बल से ये मेरे पाप न सब धो जायेगे ।
अपनी सब इच्छाओ पर मै प्राप्त न जब तक जय करलूँ,
और न जब तक पूर्ण-दुखो की सहन-शक्ति सचय करलूँ ।
तब तक के ही लिए देव ! यह ऐसा व्रत धारूँगा मै,
अपने प्रण को पूर्ण करूँ, दुख से न कभी हारूँगा मै ।
सभा-सहित थे चकित भूप, बाहुक की ये बाते सुनकर,
विस्मय-भरी धरा है, थे सब मौन यही मन-मे गुनकर ।

नृप ऋतुपर्ण-अश्व-शाला का, बाहुक ने सब भार लिया,
सब सूतो को और हयों-को आतम-सदृश ही प्यार किया ।
दूर दूर से क्रय कर घोडे, भरी गई वह हयशाला,
मुक्ता-माणिक्यों-से मानो थी प्रदीप्त वह मणिमाला ।
सिन्धु-देश के लम्बकर्ण हय, तन कृश किन्तु महान् बली,
दृष्टि उपेक्षित उन्हे समझती, गति कहती ये है बिजली ।
दशो जगह की दशो भौंरियाँ थी विशुद्ध जिनके तन पर,
छोड़ धरातल उड़ते से वे, चले विचार यथा मन पर ।

भक्ष्य, चर्व्य दे पेय पुष्ट कर, बना दिये वे सभी सबल,
विविध रग परिपूर्ण अश्व वे, थे उनमे कुछ पूर्ण धवल।
कर परिचर्य्या मन से उनकी रोगादिक से मुक्त किये,
लगे समझने वे नर-भाषा, अन्य गुणो-से युक्त किये।
अपने स्वामी-हित करते वे, प्राणों का भी मोह नही,
घुसे अनल-मे कर न सके प्रभु-आज्ञा से विद्रोह कही।
हय-बल से साकेतपुरी की, सेना-शक्ति अपरिमित की,
मानो, वायु-शक्ति सञ्चित कर बाहुक ने एकत्रित की।
अपने कार्य-मग्न वे रहते, था न उन्हे कुछ अन्य व्यसन,
बने तपस्वी तप करते थे, एकाशन हो एक वसन।
दिन पर दिन जा रहे बीतते, काल चक्र स्वच्छन्द चला,
नभ-मे अगणित पूरी हो हो, क्षीण हुई थी चन्द्र कला।
कार्य-मग्न भी बाहुक को तब धरे उदासी रहती थी,
भीतर भीतर, शमी-अनल सी चिन्ता उनको दहती थी।
कभी किसी ने उनके मुख पर देखी कुछ मुस्कान नही,
छिपी घटा-मे विधु-लेखा सी, मुख-शोभा निष्प्राण रही।
चलते चलते रुक जाते वे, सोते हुए चौक पडते,
बैठे बैठे कभी दृगों-से आँसू मुक्ता-से झडते।
श्वासोच्छ्‌वास तीव्र हो जाता, होता कभी स्वयं ही मन्द,
परम व्यथित रखता था उनको, उनका ही वह अन्तर्द्वन्द।
याद कभी आता नारद का वह पूर्वानुराग देना,
बन-आखेटक कभी याद आता था हस पकड लेना।
उसे छोडना, उडकर उसका निकट भीमजा के जाना,
तीनों लोको के वैभव-सा, सुधा सुखद-उत्तर लाना।
और बीच मे-ही देवो से, अपना विवश छले जाना,
उस छल का ही वर बन जाना, भैमी-के दर्शन पाना।
ओह ! प्रतिज्ञा वे भैमी-की उन्हे व्यथित कर देती थी,
विषम-विताप और पीड़ा-से उनका उर भर देती थी।

याद स्वयम्वर की जब उनको, भैमी की छवि आती थी,
उनके प्राण तडप-से उठते विद्युत-सी छू जाती थी।
वज्री-का उस कमल-पुष्प से, विजित स्वय ही हो जाना,
विश्व सुन्दरी स्वयम्वरा-से फिर अपना माला पाना।
आता याद विहार विपिन-का राजपाठ का गत होना,
व्यथित भीमजा-सहित विपिन मे तरु नीचे भूखे सोना।
आखेटक द्वारा चित्रित, जब ध्यान कुमुदनी का आता,
चित्र-पदो मे, तब नृप-सिर श्रद्धा से था झुक सा जाता।
और तपस्वी अनुज रूप का स्मरण, बना देता पानी,
होते बडे अधीर, ज्ञान को जाते भूल परम ज्ञानी।
हाय! अभागे ने मैने ही सारे घर को दुखी किया,
छोड-चुका सन्तति भी अपनी, सिर पर अपयश-भार लिया।
मै कुलघाती हाय, किये मेरे व्रण कभी न सूखेगे,
चन्द्रवश! पुष्पित होने पर भी ये काँटे दूखेगे।
उठती कसक असह्य उन्हे तब, मुख से 'हाय' निकल जाता,
पार्श्व-शयित जन उन्निद्रित हो, उनको देख भीति पाता।
आता याद छोडना जब वह वन-मे रानी सोती को,
अछला अजरा अमरा का, धारे उस आधी धोती-को।
तब वह स्मरण-शक्ति भी उनकी कुठित-सी हो जाती थी,
तिमिर जाल आगे घिर जाता, दृष्टि न पथ को पाती थी।
ओह, नराधम पापी हूँ मै, निकल तभी मुख से जाता,
वृश्चिक-दशित तुल्य हुआ तब, बाहुक-तन तडपन-पाता।
ललित-चन्द्र नभ-मे जब हँसता लेकर अपनी धवल छटा,
उसे देख, बाहुक-मुख पर तब घिर जाती थो शोक-घटा।
चन्द्रसुधे! तुम आज कहाँ हो, हेमलते! आओ, आओ,
तड़प-रहा हूँ हत होकर मै, मेरे प्राण बचा जाओ।
सब ऐश्वर्यों के छुटने से वन-मे दुख अति विकट रहा,
पर, जब तक तुम रही निकट, सब कुछ ही मेरे निकट रहा।

आज मुझे जग सूना लगता, इच्छा रही न जीने की,
दृष्टि अभागी पर, हठ करती रूप-सुधा-रस पीने की।
अन्तर्ज्वाला से जल बाहुक यों-ही व्यथित रहा करते,
मदन-शरो को कवच-हीन से वे असहाय सहा करते।
पी, पी, चातक कहता था जब कोयल कूक मचाती थी,
श्यामल-घटा उफनती सी जब नभ-मे घिर घिर आती थी।
विद्युत तडप तडप उठती, तब सभी धैर्य बाहुक खोते,
हा भैमी, हा भैमी ! कहते अश्रु-सलिल से मुँह धोते।
आ-जाता प्रण याद किन्तु जब, तब कुछ धीरज सा पाते,
मीच नेत्र, कर-तल पर मुख रख, समाधिस्थ से हो जाते।
जीवक सूत पूछता उनसे मित्र ! व्यथित क्यो-रहते हो,
बतलाओ, वह दु ख मुझे भी, जिसे रात दिन सहते हो।
यत्नो से ही कठिन कार्य-साधिका युक्ति मिल जाती है,
मित्रो-से कहने से ही तो कष्ट-मुक्ति मिल पाती है।"
"मित्र ! जानता हूँ मै, एक अभागे ऐसे दुर्जन को,
अपने हाथो गँवा चुका जो अपने सब तन मन धन को।
अपनी पतिव्रता पत्नी को आधी रात विजन वन-मे—
सोती-हुई छोड-आया वह, दया न कुछ आई मन-मे।
उसकी सती सुन्दरी का जब ध्यान मुझे आ-जाता है,
हो जाता हूँ व्यथित, न मेरा हृदय चैन तब पाता है।
इसी भाँति कुछ कह जीवक-से, बाहुक छुटकारा पाते,
किन्तु वियोगानल लपटो-से, जलते-से फिर घिर जाते।

यदपि घहरता सिन्धु, गगन-मे घिरे हुए घन,
चलता झझावात, स्वयं केवट व्याकुल-मन।
घोर तिमिर छा-रहा, न था सबल खेने को,
हुई तदपि प्रण-नाव, अवधि-तट छू-लेने को।
मरने जीने का प्रश्न था मची हुई थी खलबली,
तब सत्याश्रित हो किन्तु वह कूल-निकट तरणी चली।

छिडा हुआ सुरलोक मे यह ही एक प्रसग,
निज-व्रत-निष्ठा श्रवण कर होते सुर भी दग।

"बोल उठे देवेश, करो कृपा अब कलि सुभग,
क्यो-देते अति क्लेश, निरपराध जन को अरे !"

"बोले-कलि, हे देव स्वय लज्जानत हूँ मै,
देकर उनको क्लेश स्वय ही आहत हूँ मै।
सुखोपाय कर चुका किन्तु, वे माने, तब तो !
मेरा तो प्रण गया, पूर्ण हो उनका अब तो !

त्रयोदश सर्ग

है देह स्यन्दन, जुते दुख - मृत्यु-रूपी—
दो अश्व ये, सजग जो इनसे रहेगे।
आघात श्येन-सम ही इनका बडा तो,
हो भीति-मुक्त, जन-स्वस्थ, यहाँ-सहेगे।

सती वे आई भी, पर न कुछ आना यह रहा,
वनो-मे देवी का निखिल-धन पानी बन बहा।
हुआ तो क्या ! पानी जलद च्युत भू-पै जब पड़े,
हँसे ये सीपी-सी, निरख तब मुक्ता-धन जड़े।

थे यदपि देह पर आज न उनके गहने,
काषायिक धोती मात्र सु तन पर पहने—
कुण्डिनपुर मे थी प्रगट गगन-की भूषा,
छिटकाती-सी थी छटा कृशाङ्गी ऊषा।
पथ देख रही थी, हाय, सूर्य कब आवे,
अपना खोया धन, कमल-नेत्र अब पावे।
रहते बिखरे से बाल, न सुध थी तन की,
अनियन्त्रित अश्व-समान दशा थी मन की।
थी मूर्त्ति वही, हाँ-वही, विजन कानन की—
आ-गई प्रतिष्ठा-हेतु परन्तु-भवन की।
अब राजभवन भर गया विपिन वे रीते,
था उन्ही दिनो का ताप यदपि दिन बीते।

घन कहाँ ! आम्र से भिन्न लता थी प्यासी,
वह हास्य स्वप्न ! अब धरे अनन्त उदासी ।
कितना गहरा यह रग, सफल सब सहकर—
कहता मानो सिन्दूर माँग-मे रहकर ।
आई जिस दिन विधु-छटा, घटा से आवृत—
कुण्डिनपुर-मे थी, इन्दु समान समादृत,
पर, देख राहु-सा ग्रास, उदास हुए सब,
आशा पाकर भी हाय ! निराश हुए अब ।
यह कौन ! इन्हो-सी अन्य सामने आई—
आपाद-मुकुर-गत दिव्य-सती-परछाई ।
वह ही काषायिक वस्त्र, गात्र-निर्भूषण,
फूली सन्ध्या-सी वही सुखद निर्दूषण ।
वे ही मुमुक्षु से व्याल, बाल लहराते,
मुख-विधु पर बादल सदल शोक घहराते ।
दृग रहे अभी, दो बिन्दु धरे नीरज से,
पर था वह अ-क्षम बाँध, अ-बल धीरज से ।
दो नदियो का यह मिलन, उमडती आई,
पावस-जल से परिपूर्ण घुमडती आई ।
पानी का घाटा कहाँ, रहेगा अब-तो,
टूटे फूटेगा बाँध बहेगा सब तो ।
वे एक अन्य का बनी हुई थी दर्पण,
थी देख रही सामने सभी निज-तन-मन ।
चिरदिन पीछे प्रतिबिम्ब आज निज दीखा—
वह दीन हीन कृश, लता-वितप्त-सरीखा ।
भरने को मानो हानि, हुई एकत्रित,
दोनो मिलकर ही एक-तुल्य हो चित्रित ।
भर कौली, लिपटी, सिमट मिली, सुधि भूली,
आहा, दो सन्ध्या साथ गगन-मे फूली ।

हो सकी कहाँ, वे किन्तु पूर्व-सी पूरी,
दो मिलकर भी थी एक सु-मूर्त्ति अधूरी।
था एक सलिल का स्रोत हुआ दोनो-का,
वह स्कन्ध-वसन जल-धौत हुआ दोनो-का।
आँचल भी रोकर लगा छोडने पानी,
सगम-मे उसने भी न कमी कुछ मानी।
"हा-बहन कुमुदनी! हाय! हुई तुम कैसी,
वह मूर्त्ति तुम्हारी कहाँ, विमोहक वैसी।
मुझ-सी ही तुम्हे निहार, विपत्ति-अभागी—
रख सकी न धीरज मरी, यहाँ-भी जागी।
मै ही अभागिनी हेतु, दुखो का सब के,
शोधित करते वे देव वैर निज कब के।
पाकर तुमको दुख द्विगुण हुए से मेरे,
मँडराये ये सर्वत्र मुझी-से प्रेरे।
मै साथ रही तब कुशल, हा, न वह भी अब,
तुमने री! अपने हाथ किया यह क्या-सब!
वह स्वत प्राप्त निज भाग्य, स्वय ही छोडा,
निज प्रिय-धन से मुँह मोड, द्रव्य क्या-जोडा।"
"हाँ बहन किया था सभी ठीक तब मैने,
की प्राप्त बहन की वरद लीक तब मैने।
तुम वन वन भटको, और बनूँ मै रानी,
तुमने अपनी ही बहन न हा, पहचानी।
पर, मेरा यह प्रतिशोध चुकाया तुमने,
मेरे कृत का ही यह फल पाया तुमने।
यह बन गिरिवर-सा गया, हाय! राई का,
भाई ने निज अपमान समझ, भाई का—
ऋण, ब्याज, बहन से लिया बहन का सारा,
वे पुरुष, बहन! क्या किन्तु हमारा चारा।

मै तो आई थी उन्हे सजग करके ही,
अपने सिर पर सब पाप-ताप धरके ही।
पर वे, निशार्ध मे और विजन कानन-मे—
सोती को भागे छोड, न सहमे मन-मे।
हाँ-बहन! तडप वह एक रुलाती मुझको,
वेदना विषम दिन रात घुलाती मुझको।
मेरे सिर पर धर हाथ-हृदय से कह दो,
था हुआ बहन! दुष्काण्ड निषध मे वह जो।
उसमे मेरा भी हाथ मानती हो क्या—
मेरे मन का सब भाव जानती हो या।"
"हा शान्त पाप, सन्देह करूँ तुम पर भी,
सच पूछो तो, निर्दोष अरी! देवर-भी।
विधि वश वे बने निमित्त न कृत यह उनका,
मेरा देवर निष्पाप, सिन्धु सद्गुण का।
कर चुके मुझे थे क्षमा देव, पर तब भी,
क्यो घोर दुखो की घटा घिरी यह अब भी।
भावी को रोके बहन! शक्ति यो-किसमे,
तब दोष किसी का रहा कहाँ, कुछ इसमे।
यह हुआ वही जो अरी! अटल था होना,
यह, कलह-मूल है सदा, धरित्री सोना।"
"रोना धोना यह छोड हटो, हे बेटी!
क्या-रही जगत मे तुम्ही भाग्य की हेटी।
यो कहकर नृप ने कौली तभी छुडाई,
मानो, दो उलझी लता शीघ्र सुलझाई।
चिर दिन पीछे तुम इष्ट-सिद्धि-सी आई,
मैने अपनी सब लुटी, आज निधि पाई।
तुमको सम्मुख अवलोक हुआ दुख कम-सा,
होगा न पिता हा-मेरे तुल्य अधम-सा।

कैसे चावो-से पली पुत्रियाँ मेरी,
हा-कमल-कोमला, वज्र-दुखो ने घेरी।"
"कुशली तो हो हे तात ! भीमजा बोली,
रोकर वह लिपटी आर्त्त पिता-से भोली।
माँ-बाप जन्म के हेतु, न भाग्य-विधाता,
निज कर्मो-के अनुसार जीव फल पाता।"
"हे बेटी कैसी कुशल, और वह किसकी,
आजन्म दुखी वह, दुखी पुत्रियाँ जिसकी।
हो जिसके भिक्षु-समान सुता, जामाता,
हा-शोक, तदपि वह अधम, नृपति कहलाता।
हा हन्त ! सु-राष्ट्र विदर्भ, काम क्या-आया,
जामातृ-तृषा भी बुझा न जो यह पाया।
क्या-कहूँ किसी से, कहाँ-स्वमुख दिखलाऊँ,
इस जीवन से तो सुखद, मृत्यु पा जाऊँ।
क्या-हमने ही दुष्कर्म किये जग-भर-मे,
जो फँसी हमारी नाव, बुरी अधभर-मे।
धीरज धर कर हो शान्त, उन्हे भी पावे,
सर्वत्र गुप्तचर छुटे खोजकर लावे।"
"आ निराभरण तू अम्ब तपस्विनि ! मेरी,
असमय ही तू यो-हाय ! जरा ने घेरी।"
"हाँ मुझसे मेरी लिपट लाडिली बाला,
जो बुझे सुलगती हुई हृदय-की ज्वाला।
मै जीवित हूँ हाँ-महामहिम-सम्राज्ञी,
जिसकी बेटी है निषधराज की राज्ञी।
क्या-किया हाय रे अन्ध भाग्य ! क्या-सूझी,
यह कल्प-लता सी विपिन-दुखो-से जूझी।
इस विस्तृत भू-पर अनुपमेय गुणवन्ती—
तू विश्वसुन्दरी हाय, वही दमयन्ती।

श्रेयस्कर वे आशीष सभी से पाये——
मेरी बेटी के काम न हा क्यो आये।
फिर भी तुझसे मातृत्त्व सफल है मेरा,
कुलवधू-हेतु आदर्श, मार्ग यह तेरा।"
"तुमको भी मैने दुख दिया हा मैया!
वे दमन, दान्त, दम, कहाँ सलोने भैया!"
"जीजी हम तो ये रहे तुम्हारे अनुचर,
तुम भूल गई क्यो हाय, बहन! अपना घर।
माँ-बाप बन्धु परिवार इसी हित होता——
करता सुख शान्ति प्रदान, दुखो को खोता।
यदि निकल गया था राज्य निषध-का छल-से,
तो जीजी! हम सब बन्धु न थे निर्बल-से।
क्या-देख वहाँ अन्याय, मौन हम रहते,
छल कपट पूर्ण षड्यन्त्र, न वह हम सहते।
नल पुष्कर एक समान यदपि है हमको,
करते तब हम अपसरित किन्तु इस भ्रम को।
अपना वह कब! जो असत आचरण करता,
वह खल, छल से जो अन्य-भाग को हरता।
यह धनुष-मात्र तब वहाँ सु-न्याय चुकाता,
निज दुष्कृत का फल, दस्यु शीघ्र ही पाता।
होते ये दोनों ओर दान्त, दम, भ्राता,
मेरे सम्मुख तब कौन, कहाँ, टिक पाता।
मे दुरभिसन्धियाँ सभी निषध से हरता,
वह राष्ट्र जीतकर तुम्हे समर्पित करता।
धिग, ये भुज बल के कोष, काम क्या-आये,
अपनी भगिनी का भी न ताप हर पाये।
अच्छा, मानो कुछ हुआ न होता यह तब,
तो था पदार्पित राष्ट्र विदर्भ जो है अब।

कहते, कहते, उन घोर-कलुष हरणो-मे—
मह दमन, दान्त, दम हुए प्रणत चरणो मे।
थी मस्तक पर पद-धूलि दृगो मे पानी,
सम्मुख थी सिद्धि स-मूर्त्त निषध की रानी।
वे उठा, उठा, निज बन्धु, सती ने श्रम-से—
भर लिये प्रेम से सभी अङ्क-मे क्रम-से।
उस काल सुशोभित हुई भीमजा रानी,
सुर-गण-हित वरदा हुई कि अम्ब भवानी।
'भैया! मैने कब कष्ट, अन्य से पाये,
हॉ, स्वय माल्य ही समझ स्व-शीस चढाये।
वह मेरा व्रत, मै भङ्ग न कर सकती थी,
यम को भी सम्मुख देख न डर सकती थी।
पर, यह दुख यम-से भी अति तीव्र अभागा,
जो, विजन विपिन मे मुझे-सुप्त को त्यागा।
हो गया भङ्ग वह मेरा मधु-सा सपना,
मै समझ सकी हूँ दोष, न अब तक अपना।
कुछ औरो का भी दोष न माना मैंने,
यह पूर्व-जन्म-दुष्कृत-फल जाना मैंने।
था अटल बन्धु! भवितव्य न टल सकता था,
मानव-वश उसमे सहज न चल सकता था।
कादण्ड, दण्ड के हेतु, हुआ करता है,
वह अधम दुष्ट का म्लान-प्राण हरता है।
फिर,तुम्ही कहो,यदि धनुष समर का भूषण—
घर-मे चलता तो था न बडा क्या-दूषण।"
तब तक जल-पूरित नेत्र कृशा सुकुमारी—
भैमी ने देखी खडी भाभियॉ सारी।
वे रोकर दानव-पीडित देव-सुता-सी—
भैमी-चरणो-मे गिरी, विभग्न-लता-सी।

"हे सती शिरोमणि देवि ! न सशय मानो,
ठहरो, अब सुख से यहाँ, निषध ही जानो ।
आ-गया हमारा पुण्य शरीरी होकर,
क्या-रहा निषध-मे शेष, तुम्हे भी-खोकर ।
दीदी ! हमने वह सुना, वृत्त सब छल-का,
पाकर अब सम्मुख तुम्हे हुआ दुख हलका ।
छोटी दीदी को देख, देख, सूनी-सी—
होती मर्मान्तिक-व्यथा हमे दूनी सी ।
ये तपश्चरण कर चुकी भवन-मे जितना,
वन मे भी घर से दूर, न सभव इतना ।
पूजेगी सादर हम सब तुम्हे नियम से,
पाद्यार्घ्य करो स्वीकार नित्य तुम हमसे ।
वे भी आवेगे शीघ्र यही मन कहता,
आजीवन जग-मे कौन, क्लेश ही सहता ।
तुम पाकर उनका साथ, हर्ष-से फूलीं,
माँ-बाप, बन्धु परिवार, सभी को भूलो ।
बनकर सयोगिनी, विषम व्यथा भी झेली,
परिहास न यह, नभ-मे क्यों ! सन्ध्या खेली ।
क्या इन शिशुओं को उचित भूल जाना था,
सौभाग्य-लता-फल-फ़ल, न बिसराना था ।
यों-कहकर इङ्गित किया, नेत्र प्रेरित कर,
भैमी ने खञ्जन-सृष्टि उधर की सत्त्वर ।
देखे, सम्मुख दो भीत सकुचित शकित—
शिशु खडे हुए, मृग-शावक से आतकित ।
अपलक होकर सुधि भूल, युगल वे तन की—
गति देख रहे आश्चर्य-चकित, क्षण-क्षण-की ।
कर पकड परस्पर खडे हुए थे चुप-से,
शोभित थे विकसित शतपुष्पी-के क्षुप-से ।

सहसा वात्सल्य-समुद्र उमड वह आया,
वैदर्भी-को कर विवश, स्व-मध्य बहाया।
वे बढी अङ्क-मे भरे मयङ्क युगल-से,
छलछला गये दृग-कमल शुष्क, फिर जल-से।
जीवन-मे पहली बार आभरण-हीना—
देखी दीना-कृशतमा-रुदित अपनी माँ।
यह जननी है या अन्य, सोचते मन-मे,
उनको सहसा भ्रम हुआ वहाँ उस क्षण-मे।
पर, देख अन्य-को, धरा एक ने धीरज,
रवि-कर-सा पा, उत्फुल्ल हुए से नीरज।
अङ्कस्थित-कर दृग-मूद, न भैमी बोली—
वे प्रतिमा-सी कुछ क्षण तक हिली न डोली।
युगपद, युग-विधु परिपूर्ण प्राप्त कर ऐसे—
आ-गया सिन्धु-मे ज्वार, समाता कैसे।
पा-वत्स-तनोष्मा, विवश रक्त ज्यों रहसा,
जग गया सती-का स्नेह, सुप्त-सा सहसा।
"आ, इन्द्रसेन प्रिय पुत्र, इन्द्रसेना तू—
आह्लाद-विधायक स्पर्श मुझे देना तू।"
"माँ-रोती क्यो-हो मौन अरी ! हो जाओ,
क्यो, हमे छोड तुम गई, शीघ्र बतलाओ।
सब निज माँ के ही साथ यहाँ है देखो,
हम जैसे मातृविहीन कहाँ है देखो।
माँ-भी वत्सो को कही, छोड जाती है,
वे तो, निज सन्तति-सग सदा पाती है।
छोडो हमको, क्यो-उर पर व्यर्थ समेटे,
तुम हो न अम्ब, हम नही तुम्हारे बेटे।
दीदी ही है केशिनी हमारी माता,
तुम माँ होती, तो ध्यान हमारा आता।

चाची अच्छी है कभी न हमसे थकतीं,
निशि दिन अपने ही सग, हमे वे रखती।
पर, ये भी तो चुपचाप विलखती रहती,
हम पूछे तब भी भेद न अपना कहती।
रपटे से दोनो, अङ्क छोड यो-कहकर,
वे, बल से पकडे रही किन्तु सब सहकर।
हम बडे-हुए अब बहुत, न रुक-सकते है,
निज आग्रह पर है अटल, न झुक-सकते है।"
"हा लाल! बडप्पन झुक जाने को आता,
जो बडा न झुकता, वह सर्वस्व गँवाता।
आते दुख क्यो! यदि बडे तनिक झुक जाते,
आने से पहले ताप स्वय फुँक जाते।
मुझसी कुत्सित माँ छोड, तुम्हे ये ऐसी—
मिल गई सु-माता स्वयं अदिति हो जैसी।
मैंने छोडे तुम, छुटा स्वयं को पाया,
मेरे दुष्कृत का दण्ड आप ही आया।
पर-हित जो खोदे गर्त्त, वत्स! इस जग-में,
बन जाता कूप विशाल, उसी-के मग-में।
मेरी ममता भी और लुटी माया भी,
अपने तरु की रह सकी न मै छाया भी।
उस चण्ड दण्ड से लाल! स्वय धृत-हूँ मै,
हा वत्स! न मारो अधिक स्वय हत-हूँ मै।
इस कुत्सित माँ-के अरे! सु-बेटा बेटी,
ओ मेरी प्रिय सन्तान! न बन यों-ढेटी।
फल छोड हाय! मै मूल पकडने धाई,
फल तो छूटे ही, मूल भी न छू-पाई।
निश्चिन्त रहो तुम लाल! न छोडूँ अब मै,
प्रिय-स्व-जन विरह के ताप सह चुकी जब मैं।

भेटो कुछ क्षण तो वत्स ! विखण्ड हृदय-से,
पुण्यामृत सेचन करो, मुक्त हो भय-से ।"
"अच्छा ! यदि हो प्रिय अम्ब बताओ तब तुम,
कैसे आई हो यहाँ अकेली अब तुम ।
आ-पाये क्यो, वे सङ्ग न आज तुम्हारे—
किस ठौर रुके रह गये, सु-तात हमारे ।
करते जब जब हम याद तुम्हे घर रहते,
तब तब हमसे सब लोग यही थे कहते ।
हट जायेंगे ये जब-कि अवधि के घन-से,
तब आओगे तुम एक साथ ही वन-से ।"
"बेटा ! अब और अधीर न हो यो मन-मे,
वे छोड मुझे भी छिपे रह गये वन-मे ।
आवेगे हाँ-वे उन्हे पडेगा आना,
मैने ध्रुव ! निश्चय यही स्व-मन मे माना ।
कोई भी जग की शक्ति, यहाँ-आने से—
उनको न सकेगी रोक, मुझे पाने से ।
मै जीवित ही यो रही कि उनको पाऊँ,
वे आ न सके तो, स्वयं खोजकर लाऊँ ।
आकण्ठ यदपि मै दु खोदधि ने घेरी,
दुर्भाग्य ! चुनौती तदपि तुझे यह मेरी ।
मत चूक, शक्ति भर यत्न पूर्ण निज कर तू,
जितना भी चाहे उदधि विपद का भर तू !
चाहे रखले जिस ठौर, छिपाकर उनको,
पर, मै भी हूँ, जो प्राप्त करूँ, प्रिय-धन को ।
मेरे जप तप व्रत हो न सकेंगे निष्फल,
निज पातिव्रत का प्राप्त मुझे है सबल ।
कहते, कहते, दृग अरुण हुए, जल सूखा,
वह विरहानल उद्दीप्त हुआ चिर-भूखा ।

आया दुख का आवेग सती के मन-मे,
वे शुष्क लता-सी हुई प्रकम्पित क्षण-मे।"
"जल-गई रज्जु बल भरे किन्तु ये अब भी,
सर्वस्व-हीन हो चुकी हाय ! जब तब भी।
दे-रही चुनौती किसे ! खडी तुम फिर यो,
आने-मे लगी न देर, हुई अस्थिर यो।
वह प्रथम चुनौती अभी अधूरी ही है,
हा शोक ! कलह की मूल, अन्य यह दी है।
कहते, कहते, यो-साश्रु-वदन-मुरझाई।
भैमी-के सम्मुख, सखी-केशिनी आई।
रानी ने बढ, दे अर्घ्य दृगो के जल-का,
उर से लिपटाकर, पूछा वृत्त कुशल का।
मेरे सुख-दुख की पूर्ण-भागिनी आ-तू,
मै हूँ वितप्त, शीतल छाया-सी छा-तू।
ये पाल-पोसकर बडे किये शिशु द्रुम-से,
हो सकती हूँ मै बहन ! उऋण कब ! तुमसे।
मेरे हित मारी लात, अवाप्त सुखो-को,
तुम बहन ! ग्रहण कर चुकी प्रगाढ दुखो-को।
मै हाय ! अभागिन, दृष्टि जहाँ-तक जाती,
निज प्रिय-मनुजो-को विपद-ग्रस्त ही पाती।
मै कैसे कु-समय हाय ! जन्म-धर आई——
अब तक भी दुष्कृत-भोग नही कर पाई।
वह पापपुञ्ज है, अन्तहीन क्या मेरा,
तुम सब को भी दुख हुआ उसी का प्रेरा।
आ-जाय मृत्यु तो, सुखद युक्ति मिल जावे,
मर्मन्तुद-दुख से स्वय मुक्ति मिल जावे।
मेरे मरने से धरा न कुछ हिल जाये,
हाँ, भार-मुक्ति का सौख्य पुण्य-भू पाये।

मर-गई बहन मै किन्तु कही यदि ऐसे,
तो, प्रिय-दर्शन का पुण्य-लाभ हो कैसे।
हॉ-समझे तब सब, मुझे दुखो-से भीता,
यह मातृ-भूमि हो कलुषित, परम-पुनीता।
क्या-आज-सदृश तब रहे सु-पितृ-पद-मानी,
क्या-खो न चुकेगा साख नर्मदा-पानी।
तब पति-पद-रत-सम्मान, धूलि-धूसर हो—
क्या-पुण्य से न वह पाप-पीठ ऊपर हो।
हॉ-सती-चरण-लिपि स्वय कलङ्कित-होगी,
पर-सुख-घातक, खल-तुष्टि न शकित होगी।
ये पाप-भोग सब हो न सके तब पूरे,
जप तप व्रत मेरे सब रह जॉय अधूरे।"
"हो शान्त देवि! मत शब्द अरून्तुद बोलो,
हे सुधा सरल! मत तरल गरल अब घोलो।
हे परन्तपे! चिर जियो, मृत्यु को भूलो,
विपदोदधि को कर पार, सुखो-से फूलो!
तुम नही अभागी, सती-सुभाग-भरो हो,
भव-सिन्धु-पार-प्रद स्वय अमोघ-तरी हो।
हे सती-शिरोमणि! साधु, साधु, तुम धन्या,
साध्वी-गण मे हो चुकी प्रथम तुम गण्या।
तुमने नारी का सदादर्श दिखलाया,
निज पति-पद व्रत का परम पाठ सिखलाया।
कर दिये व्याप्त सखि! भूरि भाव इस जग-मे,
छोडेगे मनुज न धैर्य दुखो के मग-मे।
अह, परम-सुखो से अनासक्ति सिखलाई,
तुम चरम-दुखो से, भीति-मुक्ति दे पाई।
कर स्मरण तुम्हारा भीत मनुज हो निर्भय,
होगा कातर मे स्वय सु-साहस सचय।

जब तक चमके शशि सूर्य गगन-मे तारे,
तब तक गायेगा लोक सु-गीत तुम्हारे।
हाँ-मैने कैसे लात सुखो-को मारी,
क्या-हूँ न देवि! मै शिष्या एक तुम्हारी।
कर-चुकी पार जो सु-यश-सिन्धु तुम बल-से,
मै कब कराग्र भी भिगो-सकी उस जल-से।
सखि! यह सब पुण्य-प्रताप तुम्हारा ही है,
इन पद-पद्मो का मुझे सहारा ही है,
यह तपोपूत तव-दृष्टि जहाँ-तक जाये,
हो पाप-पुञ्ज सब भस्म, पुण्य लहराये।
यह दिव्य अमर यश-कथा न मानव भूले,
दुख मे न दुखी हो मनुज, न सुख-मे फूले।
मानस-तल, कण कण अश्रु-दान कर सूखे,
ये रुक्ष कष्ट रह गये तदपि हा, भूखे।
प्रिय पति-पद-रत सम्मान गगन-मे छाया,
अघ-पङ्क दबा, यह पुण्य-सलिल लहराया।
जैसे, तैसे जब हुई अवधि गत इतनी,
अब धैर्य-तरणि के लिए शेष यह कितनी!
आओ, अब करे सु-यत्न उन्हे पायेंगी,
अणु अणु मे होकर व्याप्त खोज लायेंगी।
हो सुमति जहाँ-सखि! वहाँ न क्या-शुभ-होता,
धीरज-प्रिय मानव, अचल ढहाकर ढोता।
अब चलो, करो विश्राम, थकी-माँदी हो,
कुछ तो दुख की यह न्यून, मरी-आँधी हो।
सखि! परम दुखद है विषम-विरह की ज्वाला,
जिसकी दिव्यौषधि,कान्त-सु-कर-मणि-माला।
हो शान्त अनलता, स्वयं मेघ बरसेगा,
यह तप्त धरातल, स्नेह-सिक्त-सरसेगा,

पतझड बीते, ऋतुराज आप ही आये
निज कनक लता, अलिराज असशय पाये,
नल-दण्ड सरस हो, अमल-जलज फूलेगा।
निज निर्जलता के भाव सहज भूलेगा।
होगा आमूल विनाश, वियोग-रूजो-का,
पा मधु-स्पर्श, प्रिय-के पीयूष भुजो-का।
सखि! लता-मञ्जरी, आम्र-विटप पर छाये,
तब भूल न जाना मुझे, सु-फल जब आये।
तुम नेत्र-निमीलित आह, स्वय भर लेना,
मधु-चितवन ही बस मुझे दया कर देना।
यह इन्दु-किरण लो फूट घटा-मे निकली,
अह गगन-तिमिर मे हुई दीप्त-सी बिजली।
आ गईं वहाँ पर तभी नारियाँ अन्या,
कुण्डिनपुर मे थी सती समादृत धन्या।
वह सती योगिनी-रूप, वियोगिनि होकर,
निज सदृश बहन के सग रही हँस-रोकर।
मन-मे प्रियतम की मूर्त्ति नाम जिह्वा-पर,
बन गया तपोवन, पुण्य पिता-का ही घर।

चल-रही अब तू-फिर लेखनी!
कह भला लिखना कुछ शेष है।
निरख, मञ्जु सु-मूर्त्ति कहाँ-अरी!
अनलता यह, तापद वेश है।

दुर्दिन-मे वे ही दुख बनते, सु-दिनो मे सुख जो रहते,
शरद के शीतहर साधन ही, ग्रीष्म मे अङ्गार बन, दहते।

कह सखि ! कहाँ, उन्हे मै पाऊँ।
ढूँढ लिया है पत्ता पत्ता, किधर आज मै जाऊँ।
रहते यदपि सदा वे सग,
पर, है नीरव और अनङ्ग,
सुखदायक भी करते तङ्ग, किसको व्यथा सुनाऊँ।
कह सखि ! कहाँ, उन्हे मै पाऊँ।
समझ रही, मेरा ही ध्यान—
करा-गया उनको दुख-पान,
विष-दे गये सुधा-सी जान, कैसे उन्हे बताऊँ।
कह सखि ! कहाँ उन्हे मै पाऊँ।
पकडा मधु बनकर यह हाथ,
और छुडा भागे अब साथ,
पर, है मेरे ही तो नाथ, किस पर क्रोध दिखाऊँ।
कह सखि ! कहाँ, उन्हे मै पाऊँ।

मर्मान्तक ही उठ रही, विरह अनल की हूल,
सखि ! ऐसा कुछ यत्न कर, सब कुछ जाऊँ भूल।

तन सिसड सिसड कर जलता,
सखि ! उदारता है यह या, नारी-मन की दुर्बलता।
मेघ-प्रतीक्षा करती करती—
जलती ही रहती यह धरती,
तदपि जिसे वरती, बस वरती, वही हृदय-में पलता।
तन सिसड सिसड़ कर जलता।
नदी, अचल-से ढलती ढलती—
चढती, गिरती, जमती, चलती—
पर, जब प्रिय को निरख उबलती, नीरधि तभी निगलता।
तन सिसड़ सिसड़ कर जलता।

पूर्ण इन्दु को पाकर सजनी,
खिला, खिला कर निज नीरजनी,
करती सब न्योछावर रजनी, वह अगले दिन छलता।
तन सिसड़ सिसड कर जलता।

सह वन-ताप और हिम-धूल,
अपने तन मन-की सुध भूल,
लता, खिला देती जब फूल, तब माली आ-दलता।
तन सिसड सिसड कर जलता।

सखि! हम इस सब को क्या-माने,
तत्त्व तत्त्व ही कैसे छाने,
सफलता कि, असफलता जाने, भेद न है कुछ चलता।
तन सिसड-सिसड-कर जलता।

ओह, मनोभव से अधिक दुष्ट न सन्तति और,
मन को ही देता सदा यह पापी दुख घोर।

जल जाने-से अभागा ज्वलन-वेदना जानता है,
तथापि यह, रह रह कर जलाता है कब! मानता है।

तू श्याम-घटा घिर आई।
मँडराई झक झूम सजल हो कैसी फिरे उम्हाई।
उमड-रही तू उसके बल-से,
अक-भरी जिस निर्मल-जल से,
ठहर, घहर मत, उथल पुथल से, क्यों निज सुध बिसराई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
अभी, अभी, तो मोद भरी तू,
पर, जब हो जल हीन, अरी! तू,
जीवेगी फिर नही मरी तू, क्या-सुख मे भरमाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।

चम, चम, मुख तब तक चमकाले,
कजली ! पाया जा-सो पाले,
पड़े जान के ही फिर लाले, होगी जब अरसाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
जब तक स्व-रस न फिर पावेगी,
तब तक मुझसी बिलखावेगी,
और याद यह सब आवेगी, अब जो धूम मचाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
अतः न यो, सौभाग्य जता तू,
मै तप्ता, मत मुझे सता तू,
नीरव रह प्रिय-मोद-रता तू, सफल तभी तरुणाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।

कहाँ वे गये, छोड ऐसे अरी !
भले ही रहूँ मै दुखो-से भरी।
न छोडूँ, सुधा-रूप प्यारा पीऊँ,
सहूँ आपदाये, मरूँ, या जीऊँ।

मेरी आँखो-मे स्थान न निद्रा-हित अब,
उसने ही हा उत्पात किया है यह सब।
कैसे, वे जाते छोड, न यदि यह होती,
अब भरे उसी-की जगह दृगों-में मोती।
मै लुटा-रही दिन रात न निबँट रहे ये,
घुलघुल-कर इनमे किन्तु सु-अङ्ग, बहे ये।
सखि ! इन जैसे ही बरस उठे सावन-घन,
कैसे रोकूँ मै हाय ! विवश बहता मन।
वे नही हृदय-से, होकर तन से न्यारे,
हा, बैठे होगे कही, विवश मन मारे।

जिसमे प्रिय-भुज का ही पुनीत-सबल है—
आ-गया भाद्र-पद वही तिमिर का दल है।
ये अन्ध-निशाये-घिरी, न काटे कटती,
करती है हृदय-विदीर्ण, विकल-उर फटती।
विद्युत भी अपनी चमक दमक दिखलाती,
कर-देती कभी प्रकाश कभी छिप-जाती।
सब घहर उठे नद-नदी-झील-लघु सर-भी,
पर, मेरे हित सब जले, विपिन-गिरि घर भी।
धुक धुकी हृदय-मे जगी, लपट ये निकली,
सखि! शोक-वाष्प की बूँद, रपट ये मचली।
खिल गया शरद का पूर्ण-चन्द्र प्रिय-मुख-सा,
दे पाया यह भी मुझे परन्तु न सुख-सा।
हे आलि! तुझे है याद, नाथ की माया,
वे पहले दर्शन! देवदास जब आया।
तू देख, खडे हों कभी यहाँ-वैसे ही,
मै तडप-रही हूँ व्यर्थ यहाँ ऐसे ही।
वह राजहंस भी हाय, न अब आता है,
यह मुक्ताओ का कोष लुटा जाता है।
शिशु भी ये देख, अबोध स्वयं रो पडते है,
हा, हृदय-खण्ड सन्तप्त तरल हो पड़ते है।
मै पीत, तदपि यह शीत, सभीत किये है,
वे विगत दृश्य, यह परम पुनीत लिये है।
यह देता था अति सौख्य, आज सब भूला,
सखि! डाल रहा ऋतुराज उधर निज झूला।
ओ, कोयल! वर्जित हुआ यहाँ-पर गाना,
जा, मधुर भाषिणी! सग उन्ही-के आना।
बस, एक दिवस ही ओह! हलाहल पीकर,
वे, नील कठ हो-गये स्वय शिव शंकर।

यह विरह-हलाहल किन्तु मुझे यों-पीते—
कल्पो-के सम ये वर्ष अनेको बीते।
हो सका तदपि कुछ अग न कोई नीला,
मन-रमी सुधा-प्रिय-मूर्त्ति, दिखाती लीला।
यह उसी मूर्त्ति की कृपा, न छूता यम है,
यद्यपि यह जीवन-त्रास, न यम से कम है।
जैसे, तैसे भी बना विरह की ज्वाला—
वे झेल-रही, पी रही निरन्तर हाला।
फिर भी था खरतर शोक कहाँ ! झिल पाता,
घिरता तम नेत्र समक्ष, बोध सब जाता।
हो जाती थी निस्सज्ञ, लता-सी गिरती,
पाकर अनेक उपचार चेतना फिरती।
दोनो बहनो को मिला, केशिनी-सबल,
था बीत रहा दुख-काल, युगो-सा पल, पल।
सखि ! हुई अवधि तो पूर्ण, कहाँ, वे आये,
कुछ अधिक स्पष्ट भी वृत्त न उनके पाये।
दीखा न अभी तक हाय ! सुखद वह सपना,
आ-सका न बहन ! दुखान्त अभी क्या अपना।
प्रेषित अपने सब, लौट गुप्तचर आये,
पर, कुछ भी तो सवाद न सुखकर लाये।
करके भी यह प्राणान्त परिश्रम कितना !
कर पाये विप्र सुदेव विदित बस इतना।
साकेत-पुरी मे एक-सूत रहते हैं,
जो, अपना बाहुक नाम स-मुद कहते हैं।
उनमे सब लक्षण मिले निषध-पति-जैसे,
हय-विद्या में निष्णात, गुणी वे वैसे।
मिलती न सूत की किन्तु कान्त-से काया,
कर बैठे है क्या नाथ, कही कुछ माया।

रह-रहे सूत वार्ष्णेय निकट ही उनके,
उसने भी भेजा वृत्त, बहुत कुछ गुनके।
रहता है बाहुक एक वस्त्र ही धारे,
वह छोड़ चुका-सा भोग जगत-के सारे।
विरहानल-से दिन-रात जला जाता-है,
निज पत्नी-के प्रिय-गीत मुग्ध गाता-है।
वह भेद न अपना कहीं तनिक बतलाता,
पर, किसी वस्तु से भी न शान्ति है पाता।
शुभ-लक्षण हैं सखि ! एक और ध्रुव तारा !
जब मै सन्त्यक्ता हुई नाथ-के द्वारा।
उस कुसमय के दो चार दिवस ही पीछे—
पहुँचे थे बाहुक वहाँ-स्व-सौख्य-उलीचे।
अब बहन ! रचूँगी एक महा-माया मै,
पाऊँगी अपना विटप-कान्त, छाया मै।
या तो अब सत्वर प्राण-नाथ को पाऊँ,
यदि पा न सकी तो मरूँ, स्व-देह जलाऊँ।
सखि ! है वे कुशली, नाथ जहाँ-भी रहते,
ये प्राण अन्यथा कष्ट न इतना सहते।
देते इस तन को छोड़ सहर्ष प्रथम-ही,
घिर आया देखो, दृग-समक्ष फिर तम ही।
गिर पडी हुई मूर्च्छिता स-शोक पुनीता,
कर रही विविध उपचार सखी सब भीता।
वे स-जग हुईं, यह दृश्य किन्तु नित होता,
वह शोक तीव्रतम नित्य, सजगता खोता।
वे विटप-भिन्न-सी लता सूखती जातीं,
हँसती-रोती, चुप-कभी, कभी कुछ-गाती।
चल-रहा समय का चक्र, घोर निशि, घहरो,
पर, प्रिय-दर्शन का मोह बना था प्रहरी।

भैमी बैठी थी तनिक सान्त्वना पाकर,
दासी ने नत-हो किया निवेदन आकर—
स्वामिनि ! पुष्कर युवराज आज ही आये,
शुभ प्रणति-पुरस्सर वृत्त तुम्हे भिजवाये ।
वे चाह-रहे है देवि ! आप से मिलना,
दर्शन कर होना कृती, पुष्प-सा खिलना ।"
"जा-कहो, शीघ्र वे चले यहाँ-पर आवे,
सभव है वे ही कुछ शुभ-वृत्त सुनावे ।"

आये चलकर अह, साधु-वेश वे आये,
थे बाल सुखकर जटा-जाल बन छाये ।
वे घहर-रहे दुश्शोक-मेघ, विधु-मुख-पर,
लग-रही दुखो-की विजय स्पष्ट-सी सुख-पर ।
आँखे जल से भर-रही क्षीण थी काया,
हो चुके दीन सर्वस्व-हीन, गत-माया ।
स्वागत के हित उठ सकी न भाभी तब तक,
वे गिरे भिन्न-तरु तुल्य पदो-में जब तक ।
"देवर ! हो जाओ शान्त, छोड दो रोना,
तुम धीर वीर हो, उचित न कातर होना ।
परिवार-कुशलता शीघ्र मुझे बतलाओ
कल्याण भरे तुम रहो, उठो, अब आओ !
जिसका न साम्य, विधु-पूर्ण कभी कर पाया,
यह जीर्ण-शीर्ण है हाय ! स्वर्ण-सी काया ।"
"जिसने फूँका परिवार अनल-से तुष-की,
तुम पूछ-रही हो कुशल उसी-से उस की ।
मैं मरता यदि तो हाय, न ये दुख होते,
हो मातृ-भूमि से भिन्न न सब यो-रोते ।

मै महापाप कर चुका कु-सगति-प्रेरा,
कर-चुका नाश वह मुकुट मोह ही मेरा।
सब फूँक लोक परलोक बना मै राजा,
मत कुल-घातक से कहो-कि "देवर आ-जा।"
मै हूँ विचित्र सम्राट् मुझे मत देखो,
मेरी सत्ता-का कुफल, सदय तुम लेखो।
भैया भाभी-ही काढ दिये हा, घर-से,
लघु शिशु भी बचे न हाय, अधम-पुष्कर-से।
पत्नी ने भी तो पुण्य-वदन निज फेरा,
तुम उसी-अधम को कहो, कि देवर मेरा।"
"मै निहत स्वय हूँ तात ! मुझे मत मारो,
मत आत्मताडना करो, न साहस हारो।
मै देवर का कुछ दोष न मान-रही हूँ,
अपने को ही कुल-पातक जान रही हूँ।
गत का न कभी कुछ सोच मानते ज्ञानी,
करते है मानी पूर्ण, नियम, व्रत, वाणी।
है मुझे अटल विश्वास नाथ आवेंगे,
हम सब अवश्य निज प्राण-म्रन पावेंगे।
पर, तुमने दुष्कृत से भी लाभ उठाया,
जग को यह अद्भुत सुखकर पाठ पढाया।
क्या-तुमने कुछ सुधि, आर्य्यपुत्र-की पाई,
यह पूर्ण हुई है अवधि, न आये न्यायी।"
"मुझको न चला कुछ भेद खोज मै हारा,
पथ देख आर्य्य का रहा निषध वह सारा।
आया था मै तो यहाँ-स्वय सुधि लेने,
कहते लेने के हाय, इसी को देने।"
"हम अश्रु-धनी है आज समुद्र बहाया,
निश्चय समझो, अब यान कूल-पर आया।

कुछ दिन ठहरो अब यहाँ, निषध तब जाना,
कुमुदनी दोष को तात् ! न मन मे लाना।
कर देना उनको क्षमा, विनय यह मेरी,
होती क्षम्या ही सदा, स्व-पद-की चेरी।
ठहरो, देवर ! कुछ काल अभी मै जाऊँ,
कुछ मिष्ट तुम्हारे लिए अभी भिजवाऊँ।"
"अक्षम्य स्वय मै, किसे, क्षमा क्या-दूँगा,
भाभी ! उनसे ही क्षमा मिली तो लूँगा।"

ले मिष्ट-पूर्ण वह पात्र और जल शीतल,
पुष्कर के आगे बढे खिले से शतदल।
कँप गये युगल अन्यान्य-दशा अवलोकी,
बह चली अश्रु-जल धार यदपि अति रोकी।
"भूलो, हे प्रेयसि ! भूल हुई जो मुझ-से,
कर दो हे देवि ! विमुक्त, स्व-कोप-कुरुज-से।
था मै तो इस ही योग्य किया जो मैने,
धोया तुमने सब ताप, दिया जो मैने।

अङ्क-मे थे चरण प्रिय-के था दृगों-में नीर,
वेदना-मय श्वास चलते थे, हृदय को चीर।
हो-गई थी जीभ जड-सी क्यो-निकलते बोल,
बिखर छितराये घटा-से, विधु-वदन पर चोल।

"हे स्वामि ! निषध में चले तभी,
आवेगे जब निषधेश कभी !
तब क्षमा साथ ही पावेगे,
सन्ताप, पाप, धुल जावेगे !"

चतुर्दश सर्ग

बैठे है नृप ऋतुपर्ण पीठ के ऊपर—
साकेतपुरी-मे, इन्द्र सदृश वे भू-पर।
लग-रही सभा, आसीन सभासद है सब,
मानो, सुर पुर को छोड अमर आये अब।
है कान्ति शान्ति से युक्त दिव्य-ही आनन,
सहसा गरजा-सा वहाँ मधुर श्यामल-घन।
बोले-नृप, लाओ शीघ्र, अश्व-बल-पति को—
मेरे बाहुक प्रिय-मित्र गुणज्ञ-सुमति को।
आज्ञा पाकर झट झपट विनत सेवक-जन—
बाहुक को लाया बुला, लगे कुछ ही क्षण।
वे एक वस्त्रधर, सब भव-वैभव त्यागे—
कर प्रणति खडे हो-गये नृपति-के आगे।
'क्या-आज्ञा है हे देव !' बिनय के स्वर-मे—
बोले, वर्षा-सी हुई अमृत की घर-मे।
"बैठो बाहुक ! अनिवार्य-कार्य-वश सहसा—
तुम क्षमा करो, जो दिया कष्ट दुस्सहसा।
कुण्डिनपुर-से द्विज श्रेष्ठ सुदेव पधारे,
दे चुके वहाँ के वृत्त मुझे वे सारे।
बैठते-हुए बोले-बाहुक शङ्कित-से—
क्या-विदित-भेद-नृप, मन-मे आतङ्कित-से।
"हे देव ! कृपा कर कहो वृत्त वे सारे,
जिस कारण द्विजपति यहाँ सकष्ट पधारे।
हो गया आपका क्रीतदास-सा जब-मै,
आज्ञा-पालन-हित सदा समुद्यत तब-मै।

क्या-कार्य पडा, मै शीघ्र जानना चाहूँ,
मानूँगा नृप-आदेश, स्व-कृत्य निबाहूँ।"
"हो दास न बाहुक! बन्धु-समान हमारे,
हम भूल सके उपकार न मित्र! तुम्हारे।
हय-बल का अनुपम कोष दिया तुमने ही,
यह नाम अयोध्या, सफल किया तुमने ही।
बदले मे कुछ भी कभी न लेना चाहा,
सन्मित्रो का कर्त्तव्य पवित्र निबाहा।
हाँ-तो वह अद्भुत वृत्त सुनो हे ज्ञानी!
कुण्डिनपुर के नृप-भीम यशस्वी-मानी—
जिनकी दमयन्ती विश्व-सुन्दरी बाला—
सद्गुण-मणि-पूरित दिव्य, दीप्त-सी माला।
वह रूप ओह! क्या-कभी भुला-पाऊँगा,
बलि, बलि, उस-पर मै, यशोगीत गाऊँगा।
वह ही अनिन्द्य सुन्दरी आज पति त्यक्ता,
अह! परमगुणी भी भाग्य लिपि न पढ़ सकता।
देवो-से भी वह हुई थी न भयभीता,
उस परम-शक्ति ने स्वय इन्द्र को जीता।
फिर निषध-देश के गुणी यशस्वी मानी—
नृप नल को वर कर, बनी उन्ही की रानी।
थे नल नृप मेरे मित्र, गुणो-के सागर,
भैमी के ही अनुरूप! त्रिलोक-उजागर।"
"क्या-वे ही नल जो जुआ अनुज-से खेले,"
"रे नही! देव-वश कष्ट उन्होने झेले!"
"क्या हुआ नाथ! फिर" सुनो वृत्त हाँ-आगे—
सोये-से भैमी-ताप क्रुद्ध-हो जागे।
वन-मे पति से हो त्यक्त उदास रूदन्ती—
पितृ-गृह पहुँची सौन्दर्य-राशि दमयन्ती।

वें बन, घर, बाहर खोज, निराश थकी है,
पर, निषधनाथ को कही न देख सकी है।
दुखिनी निज भौतिक-ताप सभी हरने को—
फिर से प्रस्तुत वे, स्वयवरण करने को।
दुख रहे कहाँ-जो भोग न वे पाई है,
इस पथ-पर होकर विवश अत आई है।
निज स्वामि-हेतु दुख-मूल जगत-मे 'सोना',
पर, परमदु ख सहचरी-सुन्दरो होना।
वह स्वामी के ही नही स्वय के हित भी,
होती अति दुख का हेतु, जगत-मे नित ही।
कल का दिन ही है शेष परश्व स्वयंवर—
होगा उसका वह चुने, पुन निज प्रिय-वर।
वह दृश्य पुरातन भव्य, दिव्य दृग-मन-हर—
क्या-दिखा सकोगे बन्धु ! कृपा कर मुझ-पर।
सुर,नर,किन्नर, गन्धर्व, निशाचर तक सब—
भैमी-प्राप्तोत्सुक वहाँ पधारे थे तब।
भर-गया खचाखच्च वह विशाल-मण्डप-भी,
ऋषि मुनि समुपस्थित हुए भूल जप तप-भी।
सब मुँदे नेत्र, जब तड़ित चमकती आई,
वह शत चन्द्रों की ज्योति गमकती आई।
अह-सुधा वृष्टि-सी हुई भान सब भूले,
फिर दृग सबके अनिमेष, कमल-से फूले।
वह छटा छिटकती चली, स्वर्ग-की भू-पर,
हाँ-वही कल्पतरु खिला, था न तब ऊपर।
नर्तन करता सा काम, कुटिल धनु-भ्रू-पर,
वह छोड़ रहा सोद्वेग तीव्रतम निज-शर।
वह रूप-मण्डिता, सुधा-पूर्ण बदली-सी,
गमकी सुर तरु-की विकच-सुरम्य-कली-सी।

थे मनोजयी भी ग्रसित-व्यथित मन्मथ-से,
पी रहे रूप-की सुधा, दृगो-के पथ-से।
हे बन्धु! दृश्य हाँ, दृश्य, वही दिखला दो,
वह रूप जाल, नेत्राग्र मित्र! फिर छा-दो।
हो गई देर यह समाचार पाने-मे,
अब हो बस, तुम्ही समर्थ लिवा-जाने मे।
कम समय, मार्ग अति गहन, दूरतर जाना,
शत योजन भर वह नगर जिसे कल पाना।
मानव-बल तो यह सोच सोच ही थकता,
अतिरिक्त तुम्हारे कौन! वहाँ जा-सकता।
यह सूतराज-वार्ष्णेय यहाँ जो रहता,
निज को नल-नृप का सूत गर्व-से कहता।
आवश्यक हो तो इसे सहायक चुनलो,
पर जाना है ध्रुव! मित्र! हृदय-मे गुनलो।
बस कर दो यह उपकार, मै न भूलूँगा,
जो भी चाहोगे सखे! भेट वह दूँगा।"
बाहुक सुनकर यह वृत्त हुए जकडे-से,
तन मन उनके सब हुए मन्त्र-पकड़े-से।
विस्फारित-दृग रह गये, सभी सुध भूले,
मानो, यम-के पड गये शीस-पर भूले।
आहत पाले-से सस्य, पडे फिर ओले,
हो किकर्त्तव्य-विमूढ, न कुछ भी बोले।
नीरव क्यों-हो हे मित्र! श्रवण-कर फिर-यो,
वे नृप-से कहने लगे, सँभल कर ज्यो-त्यो।
क्या-कहा देव! भैमी फिर वरण करेगी,
वह यशस्विनी निज-यश अपहरण करेगी।
सतियों-में जो मणि-मुकुट सदृश शोभित है,
जिस पर सद्गुण की अवलि, स्वय लोभित है।

वह भैमी, जो पति-हेतु सुखो-से हीना,
प्रिय-सग राज्य-को छोड बनी जो दीना।
वह भैमी, जिसका सुयश मुग्ध-सब गाते,
खोजे से भी उपमेय न जिसका पाते।
जल सकती जो पति-हेतु अनल-मे हँसकर,
क्या-आज पथच्युत वही ! दुखो-मे फँसकर।
देवो को जो दे चुकी चुनौती अपभय,
कहते उसकी श्रीमान स-शोक पराजय।
हिमगिरि ने छोडा स्थान मान निज सारा,
बह चला सिन्धु-सा छोड स्वकीय किनारा।
यह सूर्य प्रसवनी हुई दिशा पश्चिम-सी,
हो चली अनलता देव ! आज तो हिम-सी,
हो जाये धर्म-विलुप्त, प्रलय-सी होगी।
अह, सती-मान-भव-भूति, विलय-सी होगी,
साधारण की क्या-कथा सती-भी जब यो,
है पुन स्वयवर-हेतु समुद्यत अब यो।
यह सत्य, पुरुष का भाग्य, गति-स्त्री मन की,
सुर भी न सके है जान, कथा क्या-जन की।
है जग-मे ये विख्यात, सहज-चञ्चल-मन,
कर निज पति-हत्या स्वय, जलादे निज-तन।
क्या-कहूँ किन्तु यह हृदय न मान-रहा है,
इस समाचार को मिथ्या जान-रहा है।
है भैमी सचमुच सती, सु-सन्तति-वाली,
वे करेगी न निज शुभ्र-कीर्त्ति, यो-काली।
बन सकती वज्र कठोर कही कुङ्कुम-भी,
क्या कहता है मन स्वय कहो-कुछ तुम भी।"
"बाहुक ! तुम बह-से गये व्यथित क्यो-ऐसे,
मर्यादा अपनी छोड, गिरी वह कैसे !

यह एक पक्ष की बात मित्र ! तुम कहते—
युग-सा बीता है, उसे दुखो-से दहते ।
क्या-एक हाथ, से तुम कर-तल ध्वनि चाहो,
पुरुषो का कुछ-कर्त्तव्य न श्रेष्ठ, सुबाहो !
वैभव क्या-क्या उसने न स्व-पति-हित छोडा,
सुर-पुर निवास से ओह ! समुद मुँह मोडा ।
पति-हेतु अमर-अप्रीति स्व-सिर पर लेली,
पति-हेतु विपिन की विषम व्यथाये झेली ।
छोटे-छोटे शिशु हाय ! स्व-पति-हित त्यागे,
वह चली राज्य-सुख छोड, स्व-पति से आगे ।
सोती अबला-को तदपि पत्नि-विद्रोही—
निर्जन-वन-निशि मे छोड गया निर्मोही ।
ऐसे नर-हित क्या-जले, अनल-मे नारी,
क्या, समझ तात-का कूप पिये जल-खारी !
मेरा तो दृढ विश्वास यही है भैया,
सत्पति-पत्नी-से चले, श्रेष्ठ गृह-नैया ।
क्या-स्वपति-निष्ठ आदर्श-पूर्ण हो नारी,
हों क्यों-न कुमार्गी पुरुष दुरिच्छाचारी ।
युग-पक्षी-ही आदर्श, मान्य है पूरा,
वह एक पक्ष से बन्धु ! सदैव अधूरा ।
मै निन्दा करता नही, मित्र-नल मेरे,
आये ये सब दुर्दु.ख, कुमति-के प्रेरे ।
वार्ष्णेय सूत-से विदित हुआ मुझको सब,
है अटल धारणा बन्धु ! यही मेरी अब ।
उन युग-बहनों ने पाठ-पढ़ा सद्गुण का,
कर दिया वश-आदर्श अतुल अब उनका ।
मै मान रहा, अत्युच्च-चरित शुभ-भूषण,
दम्पति-ही में हो, शेष न कोई दूषण ।

आदर्श-वादिता तभी अन्य-से चाहें,
जब पहले उसको स्वयं स-हर्ष निबाहे।
अन्योन्य-हितों का ध्यान धरे वे युग-ही,
सोल्लास अन्य का मान करे वे युग-ही।
हों युग ही वे निष्कपट, सदय सस्नेही,
धरती-पर है वह स्वर्ग, सफल वे गेही।
उपभोग्य-वस्तु है नारि न केवल नर-की,
वह कल्याणी है प्रथम, मातृ जग-भर की।
तुम उससे चाहो जो-कि, वही-वह चाहे,
हाँ-वह तुमसे भी अधिक, स्व-कृत्य निबाहे।"
है हे नरेन्द्र! यह सत्य तुम्हारी वाणी,
भैमी-की मैने सभी विवशता जानी।
पर, वैदर्भी-सा सु-धन जब-कि वह छोडा,
राजन्! तब होगा विवश न नल-भी थोडा।
है उचित भीमजा करे प्रतिज्ञा-पूरी,
अब पूर्ण अवधि-मे रही तनिक-सी दूरी।"
"तुम जान न पाये अरे! अवधि तो कब की—
वह बीत चुकी, है पूर्ण प्रतिज्ञा सब की।
नृप खोज लिये सर्वत्र परन्तु न पाये,
अब तक भी तो वे नही स्वय ही आये।
या तो नल है विक्षिप्त, अवधि को भूले,
ले उड़े अन्यथा उन्हे मृत्यु के झूले।
हो गई अवधि जब पूर्ण नलानुज तब ही—
हो नलवेशी घर बार छोड़कर सब ही—
पहुँचे कुण्डिनपुर भीम-सुता को लेने,
उनका समृद्ध-वह राज्य उन्हे ही देने।
वे आ-न सकी, कर यत्न थके सब ही तो,
आई न बहन के बिना, कुमुदनी भी तो।

हो पुष्कर आज निराश, वहीं-पर रहते,
अपने कृत का उपभोग, विषम दुख सहते।
अच्छा, होती है देर, प्रबन्ध करो अब,
कुण्डिनपुर-पथ का ध्यान, सहर्ष धरो अब।
सुन अवधि पूर्ण की बात निषध-पति चौके,
दे तरु को यथा प्रकम्प हवा के झौके।
समझी मन-मे निज भूल, लगाकर गिनती,
फिर नृप से करने लगे, प्रणत वे विनती।
सर्वस्व-नाश निज समझ दुखी थे मन-मे,
कुछ भी न रही आसक्ति उन्हे जीवन-में।
"तुम क्षमा करो हे भूप ! न मै जाऊँगा,
मै तो अब जीवन अन्त, शीघ्र चाहूँगा।"
आ-गया मार्ग-मे सर्प अचानक जैसे,
जड-तुल्य रहे नृप, वचन श्रवण कर वैसे।
पर, होकर सहसा स्वस्थ धैर्य धर मन-मे,
यो बोले-मधु-सा घोल स्वकीय वचन-मे।
हे बाहुक ! पडता जान मुझे तो ऐसे,
भैमी-से कुछ सम्बन्ध तुम्हारा जैसे।
ये, भाव भङ्गिमा सभी तुम्हारे मुख-की,
कहती-सी नीरव बात विगत सुख दुख की।
जब जब भैमी का नाम लिया जाता है,
तब तब ही कुछ आवेग तुम्हें आता है।
सुन पुनर्वरण का वृत्त हुए तुम व्याकुल,
बैठे हो अब भी स्तब्ध, गहन शोकाकुल।
है वार्ष्णेय से विदित मुझे सब बाते,
तुम तड़प तड़प कर काट रहे ज्यों-राते।
किसके विरही हो भद्र ! स्व-देह जलाते,
वह कौन सुन्दरी ! गीत-कि जिसके गाते।

हाँ-महापुरुष दुख ग्रस्त, गुप्त रहते है,
वे किसी से न निज भेद कभी कहते है।
तुम निषधनाथ तो नही छिपे-हो-छल-से,
यों-बाहुक बन आ-गये कही क्या-नल-से।
निज हृदय-भेद को छिपा, हँसे बाहुक तब,
हे नृप ! यह क्या-सन्देह हुआ तुमको अब।
नल रहे तुम्हारे मित्र उन्हें तुम जानो,
उनमें मुझमें क्या-भेद न तुम कुछ मानो।
यह विस्तृत जग, सम-दुखी बहुत ही रहते,
निज-कृत-विडिम्बना, मनुज न क्या-क्या सहते।
थी एक सुन्दरी मुझे प्राण-सम अपने,
हो चुके आज तो किन्तु सभी वे सपने।
मै भी हूँ नैषध-तुल्य विपद-मारा ही,
है नष्ट लोक परलोक सौख्य सारा ही।
यो-हुआ व्यथित-मै, सुनकर उनकी बाते,
हो गई स्मरण, निज निहत-भाग्य की घाते।
जाने-मे मुझको और कष्ट ही होगा,
किञ्चित-सा जीवन शेष, नष्ट ही होगा।
मै पादप्रणत मुझको भी देखो भालो,
लौटालो निज निर्देश, विनय मत टालो।
यो-कह नीरव थे, वह दुर्वृत्त-विषैला—
अपना प्रभाव-कर गया, देह-में फैला।
छटपटा-रहे से प्राण, हृदय छिलता-सा,
भू-भाग विशद नभ, लगा उन्हे हिलता-सा।
नत-मुख बैठे निज कमल नेत्र कब ! खोले,
कुछ सोच अयोध्यानाथ स्नेह-से बोले—
हे बाहुक ! कटु-भी मानो बात हमारी,
मै, विषम-अवस्था समझा सभी तुम्हारी।

तुम पर-कृत-साधक,सुजन,सौम्य, शुचि चोखे,
देते है कब सन्मित्र समय-पर धोखे।
वे दुख में निज को डाल, मित्र-कृत करते,
देने मे भी निज-प्राण, न भद्र ! मुकरते।
यदि नही विनय, तो नृपादेश अब मानो,
अपने को मेरा एक प्रजाजन जानो।
तुम पहुँच समय पर गये मुझे यदि लेकर—
तो, अनुपम तुमको अक्ष-ज्ञान वह देकर—
मै सफल स्वय को समझ, मुदित अति हूँगा,
तुम हय-विद्या दे सको उसे तो लूँगा।
वह अक्ष ज्ञान, सब भव-सन्ताप हरेगा,
कलि तक का दुष्ट प्रभाव विमुक्त करेगा।
यो-कह, बाहुक कर पकड़ प्रेम-से सत्वर—
उठ गये स्वय, कर खड़ा मित्र-को नृपवर।
बाहुक क्षोभित थे और नृपति अति लोभित,
वे श्याम-श्वेत गिरि-निकट खडे-से शोभित।
बाहुक ने गुन पर-श्रेय, प्रेय कुछ अपना,
करना चाहा वह सत्य, दुखद भी सपना।
वे, विश्वासाविश्वास निराशा आशा—
भैमी-दर्शन का मोह, सत्य-जिज्ञासा—
इन सबको उर-में धार हुए गमनोद्यत,
था यदपि भार से हुआ हृदय उनका हत।
वार्ष्णेय सूत को निज समीप बुलवाया,
आवश्यक पान्थादेश उन्हे समझाया।
जो अपभय हो सर्वत्र गरुड़-सम दौड़े,
वे छटे, लटे-से श्रेष्ठ चतुष्टय-घोड़े—
बतलाये सैन्धव शुद्ध भ्रमरि दश वाले,
जो वायु-रूप ही स्वय, स्नेह से पाले।

पाकर फिर कुछ एकान्त शान्त कर निज मन,
बाहुक ने सविनय किया देव अभिवन्दन।
हे देवराज! यम, वरुण, अनल, तुम आओ,
अपने वे सब वर पूर्ण आज कर जाओ।
हे वायु देव! तुम आज सदेह पधारो,
मुझ प्रणत अकिञ्चन जन को सदय निहारो।
यह रथनौका हो पार बनो तुम केवट,
जो, मिट जाये ये आज आप चिर-झंझट।
है भुक्ति मुक्ति युग मुझे यदपि अब सम-सी,
जो मित्र-समस्या किन्तु समक्ष विषम-सी—
पूरी सत्त्वर हो जाय, नाथ! यह वर-दो,
निज दया-पूर्ण दृग-पात, दास-पर कर-दो।

उस ओर स्वय कलि विकल हुए पहले-से,
अब सुन सुरपति-आदेश और दहले-से।
बोले—विनीत कर-बद्ध, शक्र से तब वे—
समझो, बस आपद-मुक्त दम्पती अब वे।
हे देवराज! वे परम पूर्ण-व्रत-धारी,
है सती-शिरोमणि, भीम-नरेश-कुमारी।
दुःखानल-मे पड परख हुई यह उनकी,
वह अमर यशस्वी युगल, निरख यह गुण की।

है स्थित ऋतुपर्ण नरेश दिव्य उस रथ-मे,
वह कौधा-सा जा रहा दमकता पथ-मे।
वार्ष्णेय सग, पर स्वय सूत बाहुक है,
लग-रहे आज ज्यो-पवन-पूत बाहुक है।
वह वाजि-वेग, अह! छू न रजस्कण पाते,
हय, छोड़ भूमितल आज उड़े-से जाते।

पथ-दृश्यो को भी देख नृपति कब ! पाते,
दृग-पात पूर्व ही दृश्य स्वय छुट जाते ।
रथ ही है या-कि विमान सुरो का है यह,
मन-मे यो स-मुद नरेश सोचते रह-रह ।
मुँदते दृग, वेग असह्य वायु का लगता,
यह मातलि सुरपति-सूत, मुझे या-ठगता ।
"लो उत्तरीय यह गिरा, तनिक रथ रोको,"
"नृप ! अब योजन भर दूर, उसे अवलोको ।"
"क्या-इतनी गति-से अश्व बढे जाते है,"
"दृग-सम्मुख जन कब ! इन्हे देख पाते है ।
तुम बैठे रहो नरेन्द्र ! सँभल-कर रथ-मे,
कुछ अप्रिय घटना घटे न जिससे पथ-मे ।"
अश्वो-का पड पड शब्द, घोर स्यन्दन-की,
मोरो-का रव, खो-रहे शान्ति सब वन की ।
वह गरज-रहा मृगराज, धरणि यह लरजी,
क्षण-भर वह हय-गति, महानदी ने बरजी ।
नद नदी सरोवर झील, अचल वन-जङ्गम—
को चला लाँघता सु-रथ, त्रिनद-सा सङ्गम

बाहुक की वह सारथी कला विधि-गति भी—
मोचन-आकर्षण-वल्गु, विराम सु-यति भी—
अवलोक हुए वार्ष्णेय सुचिन्तित मन-मे—
वय-गुण मे तो यह नैषध, किन्तु न तन-मे ।

बैठे नृप शोभित हुए फूल से फूले,
क्षण-भर वे कल्पित चित्र न उनको भूले ।

सौ सौ चन्द्रों को ज्योति, दमकती भैमी,
मण्डप-मे, ले जयमाल गमकती भैमी।

बाहुक भी मन-मे खिन्न छिन्न से व्याकुल,
तरु, मूल लता-से भिन्न हुए-से आकुल।
घर नष्ट भ्रष्ट, लग रहा उन्हे जग सूना,
देता था वह दुर्वृत्त आज दुख दूना।

अश्वो की अद्भुत दशा, कहाँ वे थकते,
मानो, पूरा भू-भाग नाप अब सकते।
जिन पर हों देव कृपालु कठिन क्या-उनको,
तब जाते लगती देर न कुछ दुर्दिन को।
अविराम चले, रथ रुका नर्मदा तट-पर,
वे खेल-रही रवि-किरण नील जल पट पर।
थे स्वय तुरग, फिर शक्ति वायु से पाई,
यह रथ आया, या स्वय नदी बह-आई।

अश्वों-को कुछ पौष्टिक-सा भक्ष्य खिलाकर—
कर-दिया स्वस्थ-सा शीघ्र सु-नीर पिलाकर।
फिर मज्जनादि कर मुदित हुए सब मन-में,
पाथेय लिया, खोया-सा पथ श्रम-क्षण-में।
रवि कर पाये थे कहाँ, अभी पथ पूरा,
पर, नृप-रथ तो आ-गया, मनोरथ पूरा!
बाहुक पर हुए कृपालु, नरेश मुदित-मन,
विधि-पूर्वक किया प्रदान अक्ष-विद्या धन।

जिससे सब भव के ताप कॉप-कर भागे,
कर बॉध स्वय सब सिद्धि खडी हो आगे।
यह था उत्कृष्ट सुदान, नाम था देना,
इस हाथ दिया उस हाथ पडा वह लेना।
नृप ने बाहुक से अश्व ज्ञान सब सीखा,
तब सुजनो का व्यवहार, मूर्त्त-सा दीखा।

पा समाचार नृप भीम लिवाने आये,
पर, कुछ न स्वयवर चिह्न अतिथि को पाये।
दीखी न तनिक भी पुरी उन्हे वह सज्जित,
मै ठगा गया यह सोच हुए वे लज्जित।
"हे अतिथि ! देखकर तुम्हे हृदय अति हरसा,
यह हुई अचानक बिना मेघ की वर्षा।
कैसे पथ भूले, आज कृपा की राजन्,
हॉ-है न निरापद राज्य ! सुखी सब तन मन।"
"है आतिथेय ! है दया आपकी जब-तक,
है सब प्रकार से कुशल असशय तब तक।
चिर-काल हुआ, वृत्तान्त न था कुछ पाया,
नृप दर्शनार्थ ही आज चला मै आया।"
घेरे, आगत-को रही परन्तु निराशा,
मानो ढाया गिरिराज, मिला चूहा-सा।
रथ चला नगर मे, पुरी-मार्ग सब लरजे,
सुन घोर, पौर जन चकित, हयादिक गरजे।
होकर आनन्द-विभोर मोर रव करते,
दर्शक हृदयो-को नेत्र सुखो-से भरते।
आतकित शिशु छिप गये मातृ-अको-मे,
शकित खग व्याकुल सिमट गये पखो-मे।

घर छोड दौड कमनीय रमणि निकली-सी,
वे गमक चमक से दमक रही बिजली-सी।
कच कुच नैतम्बिक भार कहाँ, झिलता था,
वह काम-कनक-तरु झुमक झूम हिलता था।
खिचती-सी आती भीड घोष-से रथ-के,
भर गये खचाखच पार्श्व, जनो-से पथ-के।
रथ-बढा, निकट जा-रहा राज-तोरण-के,
ज्यो-चला स्वर्ण-गिरि,निकट सुरेश-भवन के।

सुन, वह श्रुतपूर्व सुघोष भीमजा चौकी,
उर-को आतुरता हर्ष-वेग-से रोकी।
निज अर्थ-पूर्ण प्रिय-दृष्टि बहन-पर डाली,
खञ्जन ने की ज्यो, इन्दु-कला रखवाली।
नीरव उत्तर ही मिला दृगो-से मानो,
(जीजी ! कष्टो का अन्त निकट अब जानो।
हो गई तपस्या पूर्ण, अभीष्ट समागत,
धुल चुके कलुष, हो गये पुण्य सब जागृत।)
वे क्षुब्ध हृदय से उठी क्षीण विधु-रेखा,
वातायन-मे झुक झाँक, काँप कर देखा।
केशिनी कुमुदनी साथ अधीर झुकी-सी,
श्वासो की गति भी, हृदय-समान रुकी-सी।
रथ दीख-पडा प्रिय-हीन, रिक्त घन-सा ही,
माना, मन मे निष्प्राण उसे-तन-सा ही।
रह गई सती-की दृष्टि, सशोक फटी-सी,
पद-युग नीचे से धरणि अनन्त हटी-सी।
चिर भूखी-की रह गई—रिक्त-ही झोली,
वे शोक रोक, कुछ सँभल क्षीण-सी बोली—

वार्ष्णेय सहित उपविष्ट अयोध्यापति वह,
दोनो को मेरी समझ रही है स्मृति यह।
अनजान अन्य यह एक! हाँकता रथ जो,
प्रिय-रथ गति-सा ही दहल रहा है पथ तो।
पर, यह जन तो, निस्तेज कुरुप अभागा—
इसके मुख-पर प्रिय-तुल्य कहाँ! रवि जागा।
यह मजल कहाँ रथ, बहन! अनल है मुझको,
अपना यह जीवन स्वय विफल है मुझको।
सचमुच होगा यह अनल, जलूँगी अब मै,
क्या-हृदय हीन, निष्पाद चलूँगी अब मै।
इस लोक मे न पा सकी खोज कर हारी,
अब खोजूँगी वह लोक, करूँ तैयारी।
पायेगे ही प्रिय कही, रहूँगी अनुगत,
मै जन्म जन्म मे करूँ पूर्ण अपना व्रत।
हे बहन! भूलकर मुझे, निषध तुम जाना,
निज पति-पद की पा शरण, धरणि बन जाना।
गत की कुछ भी तुम उन्हे न याद दिलाना,
देना उनको सन्तोष, स्वय सुख पाना,
केशिनी! कहूँ क्या-तुम्हे, न शब्द विदित है,
बस, ये दो आँसू शेष तुम्हारे हित है।
हाँ, एक कामना शेष आज बस मेरी,
मै जन्म जन्म मे रहूँ स्व-प्रिय-पद-चेरी।
इस जीवन-मे हो सकी न प्राप्त सफलता,
चिर-दिन से जलता गात, अवाप्त अनलता।
वह धोखा ही लग गया सुदेव सुमति-को,
यह दिया व्यर्थ ही कष्ट अयोध्यापति-को।
कल ठडी हो यह देह, वियोग-ज्वलन्ती,
रह जायेगी बस कथा-शेष दमयन्ती!

ऐ, यह क्या! वे कुछ ठिठक, झिझक फिर बोली,
सम्मुख सुनती दो साश्रु-वदन-नत भोली।
यह तप्त धरा-पर, देव-सुधा बरसी-सी,
हत-शुष्क लता कर स्पर्श जिसे सरसी-सी।
देखो, मेरी यह वाम आँख अब फडकी,
जब जला स्नेह तब हन्त! वर्त्तिका भडकी।
अब वह रथ भी जा रुका अश्व-शाला मे,
मच गई खलबली उधर अश्व-माला-मे।
वे निषध-अश्व हिनहिना रहे है कैसे!
आ-गये सामने स्वय निषध-पति जैसे!
होते नर से भी अधिक आलि! हय स्नेही,
यो-बदल रूप आ-गये कही-क्या वे ही।
गिर पडता है फल आप बहन! जब पकता,
अल्पावधि मे यो दूर, कौन! आ-सकता।
सपने-मे भी पर-पुरुष-ध्यान, जो मन-मे—
आया हो मेरे कभी, न इस जीवन-में।
तो, उड जाये सब कपट दृष्टि-से मेरी,
रक्खो हे प्रभु! अब लाज शरण मै तेरी।
पर, सखी केशिनी! वहाँ प्रथम तुम जाओ—
बच्चों को लेकर साथ, मार्ग शुभ पाओ।
जैसे भी हो सब भेद स-युक्ति निकालो,
तुम बहन कुमुदनी! मुझे सवेग सँभालो!

अश्वों-से हो निश्चिन्त वही भूतल पर—
बैठे थे बाहुक, म्लान सुमन-से दल-पर!
हो रही दुर्दशा चरम, परम शुभ मन-की,
आती थी उनको याद विगत जीवन-की।

वह दिन भी था ! जब यहाँ प्रथम मै आया,
वह दिन भी था ! जब यहाँ विवाह रचाया ।
पाया कितना सम्मान, बना मै मानी,
थी स्वय सिद्धि-सी मिली भीमजा-रानी !
यह भी दिन है हा हन्त ! अनन्त विधाता !
तेरी गति को जन, जान कहाँ, कब पाता !
है यदपि स्वयवर चिह्न न आज यहाँ कुछ,
निश्चय ही है पर, भेद सु-गुप्त महा कुछ ।
भैमी की ही यह रची हुई कुछ माया,
क्या-उसने ही साकेत-नाथ बुलवाया ।
या छल-से मेरी अश्व-परीक्षा ली यह,
निज पत्नि-त्याग की उचित सु-शिक्षा दी यह ।
आया हूँ चलकर आज एक शत योजन,
कर सका कहाँ ! यह धरा, स्व-निर्मित भोजन ।
मै परिचित ही कर दिया त्याग-के दुख-से,
सुध भूल निकल अब पडे वचन यो-मुख-से ।
मैने दमयन्ती मात्र वधू निज जानी,
अवशेष स्त्रियाँ यदि मातृ-तुल्य ही मानी ।
तो अब मुझको वह रत्न मिलेगा फिर-भी,
आतप-विमुक्त हो सुमन खिलेगा फिर-भी ।

"क्या सोच रहे हो सूत !" श्रवण-कर जागे—
बाहुक ने देखी खडी केशिनी आगे ।
हय तत्त्वज्ञानी जान पडे तुम मुझको,
पर, देख रही मै स्पष्ट, सूत-हृद्-रुज को ।
परिवार तुम्हारा कुशल-पूर्व तो है सब,
क्यो-चिन्तातुर-से उदासीन बैठे अब ।

रह, रह, बच्चो की याद तुम्हे आती क्या—
निज प्राण-प्रिया-विरहाग्नि सताती है या।
सकपका गये से सूत वचन सुन मानो,
जागृति-सी, थे पा गये स्वप्न-से जानो।
वे, अर्ध-निमीलित-नेत्र, खुले अब पूरे—
सकोच-हीन-उस मुखर-तरुणि-पर घूरे।
देखे सन्मुख, दो दिव्य-मूर्त्ति शिशु उसके—
है खडे, पकड-कर, वस्त्र उसी-का कसके।
मानो, दो सुन्दर सु-फल दिये हो तप-ने,
केशिनी-सहित पहचान लिये वे नृप-ने।
उमड़ा करुणा-नद पर, बाहुक ने सहसा—
निज वज्र-हृदय से, रोका वेग असह्-सा।
थी दृष्टि उन्ही-पर, हुई किन्तु यो-वाणी—
ढलते ढलते ही रोक दृगो-का पानी।
"था कभी पत्नि-सन्तान-युक्त मै रागी,
पर, अब भव-राग-विमुक्त हुआ हूँ त्यागी।
पत्नी की चिन्ता किसे ! रहेगी अब यों—
हो चली मार्ग-से भ्रष्ट, सती-भी जब यों।
शुभ नारि-धर्म की लीक न शेष रहेगी,
फट जायेगी ध्रुव धरा ! न भार सहेगी।
कल खुल जायेंगे अक्षि, यहाँ जन जन के,
चचल, मल छल बल देख नारि के मन-के।
अब पुनर्वरण का सती-स्वाँग जब होगा,
यह धर्म लुप्त-ससार भस्म तब होगा।"
"हा, शान्त पाप ! विष वचन कहो मत ऐसे,
तुम उपालम्भ दे रहे सती-को कैसे !
निर्जन वन-मे, निर्दोष, सु-सुप्त दशा-मे—
निज प्राण प्रिया, अनुपदा, तथार्ध निशा-मे—

जब परित्यक्त हो चुकी पुरुष-के द्वारा,
तब क्यों-न भस्म हो सका, जगत यह सारा।"
"होगी नर-सम्मुख अडी, बडी कुछ बाधा,
या, यो-निज पत्नी-सौख्य, पुरुष ने साधा।
यदि अन्य पत्नि-युत हुआ आज दुर्मति-वह,
तो है सचमुच ही, त्याज्य, व्याधि-सा पति वह।
होकर विपन्न भी करे स्वयं निज रक्षा,
हो धैर्य-धारिणी शील-रक्षिणी-दक्षा।
निज मूढ-स्वामि को भी जो करे क्षमा-ही,
है वे नारी कुल-वधू पवित्र-रमा-ही।
उन सतियो के ही गीत, लोक गाता है,
उन से ही रक्षित धर्म हुआ आता है।
मै भी हूँ गृह-से भिन्न, विपन्न अभागा,
सब धाम धरा स्त्री पुत्र छोड जो भागा।
पर, किया उन्ही के सौख्य-हेतु यह मैने,
विपदोदधि का ही रचा सेतु यह मैने।
यह पुनर्वरण का सती-वृत्त दुखदाई,
बस अब तो मृत्यु अभीष्ट ! वही सुखदाई।
मेरे भी ऐसे तनया और तनय है,
क्या-कहूँ मुझे वे प्राण-तुल्य-ही प्रिय है।
बीता अब तो चिरकाल, न उनको देखा,
भूले होगे वे स्वय पिता की रेखा।
कहते, कहते, नृप बढे साश्रु हो थोड़े,
वे दोनों बालक उठा हृदय-से जोड़े।
मुँद-गये सजल-से कमल-नेत्र कुछ उनके,
शिशु भी न डरे थे सहज धीर कुछ गुनके।
क्षण-भर पीछे दृग खोल कहा-यो-बल-से,
हों मातृ-हीन ये बाल अभागे कल-से।

अच्छा जाओ, तुम देवि ! न अब यो आना,
है - श्रेष्ठ, विगत को सदा भूल-ही जाना ।
कहकर, शिशु तरु से भिन्न, प्रफुल्ल सु-मन-से,
कर दिये अक-से पृथक, परन्तु न मन-से ।
"मै तो जाती हूँ सूत ! तुम्हारी जय हो,
मगल-मय हो सब मार्ग, विगत भव-भय हो ।
हो पुनर्वरण अब अटल सती का कल ही,
पाती नलिनी सन्तोष, प्राप्त कर नल ही ।
हो जायेंगे सब शुष्क स्वय गद-नद भी,
ये मातृ-हीन शिशु न हो, मिले पितृ-पद भी ।
वह चली गई शिशु-सग, वचन कह छल-के,
था भार-हीन-सा हृदय, उठे पद हलके ।

थे रिक्त-घडे भी पूर्ण, स्वय मधु-जल-से,
हाँ-हुआ ज्वलित-भी अग्नि, मत्र-के बल से ।
भोजन मे भी वह विदित-स्वादु ही आया,
पर, देती थी सन्देह, सूत की काया ।
हो गई परीक्षा पूर्ण, दूर-की सारी,
थी शेष रही साक्षात्करण की बारी ।
ले मात पिता आदेश, केशिनी-सहिता—
चल-पडी सती वे हर्ष-शोक से रहिता ।
रुखे बालो का जटा-जाल बन छाया,
प्रतिपदा-चन्द्र-सी क्षीण, अमल पर, काया ।
था प्रगट सूर्य सिन्दूर घटा-मे काली,
करता भैमी-सौभाग्य-सुधा रखवाली ।
थी लिये हाथ-मे रम्य सुमन-मय-माला,
लघु-खड्ग पार्श्व-मे छिपा, प्राणधन-वाला ।

या तो यह माला स्वप्रिय-कण्ठ भरेगी,
या, अधम-प्राण मेरा, यह खडग हरेगी ।
दोनो प्रकार से ही यह विरह-अनलता—
मेरे हित आज प्रदान करे शीतलता ।
था काषायिक ही वस्त्र, एक वह तन-पर,
विधु पर घन था वह,या कि स्वय विधु घन-पर।

बैठे थे बाहुक तभी सामने देखा—
आती है कम्पित खिची स्वर्ण की रेखा ।
वे उठे कि जब तक, नेत्र सुधा-से सीचे—
तब तक छाया आ-रुकी स्व-तरू के नीचे ।
नत-वदन, सती का उठा, दृष्टि खजन-सी—
वह तपोपूत निष्पाप, ताप-भञ्जन-सी—
बाहुक मुख पर जब पड़ी, कुतूहल जागा,
सुख फूल उठे से, स्वय भीत भय भागा ।
केशिनी देखती खड़ी, सुदृश्य छटा-को,
मानो निकला रवि, चीर अभेद्य-घटा-को ।
बाहुक हो गये विलीन, प्रगट अब नल थे,
उस सती-दृष्टि से धुले महौषध-छल थे ।
नृप-वदन पुष्प-मय हुआ, पाद थे मुख-मय,
करते थे ऊपर देव, सती की जय जय ।
भेजे, अमरो ने फूल वायु ले आया,
सुमनों ने वह उपहार सुमन-मय पाया ।
आया नृप-उर पर, वदन सती का जब तक,
कह उठी विहँस कर सखी केशिनी तब तक ।
लो, पुनर्वरण तो पूर्ण, सती का अब यह,
तब क्या-जाने फट जाय धरा भी कब यह ।"

वह करने को सुख दान, वहाँ-से सब-में—
खिसकी होकर मन-मुदित, न जाने कब-में !
भुज-पाश-फँसी भी काँप-रही थी रानी,
मुख-पर झर झर बह-रहा दृगो-से पानी ।
करती विरहानल शान्त, अश्रु-जल-से ही,
वे स्नेह-सिन्धु-में मग्न, युगल थे स्नेही ।
मिल गये परस्पर-हृदय, खण्डता भागी,
वह स्नेह-धार बह चली, ज्योति-सी जागी ।
"क्या-सचमुच हूँ मै प्राण-नाथ-भुज-बद्धा,"
"हे प्रिये ! धर्म साधार, मिली हाँ-श्रद्धा ।"
"अपना खोया धन नाथ ! पा-चुकी दासी,"
"हो सफल सर्वदा प्रिये ! अटल-विश्वासी ।"
"मै पुन प्राप्त कर चुकी प्राण, पद-भिन्ना,"
"कब रही कल्प-की लता, स्व-तरु उच्छिन्ना ।
हे हृदय देवि ! तुम रही सदैव हृदय-मे,
जो, देती रही प्रकाश विपद-मे, भय-मे ।
साकार हुई अब निराकार वह माया,
हे प्रिये ! तुम्हारा पुण्य, अवधि बन आया ।
निज जन्म जन्म का सग, भग क्यो-होता,
क्या-ऊषा को आरक्त - रग यह खोता ।"
"रागी ने तो, वैराग्य परम-पद माना,
पर, दासी ने निज दोष न अब तक जाना ।"
"था दोष यही, कुछ था कि न दोष तुम्हारा,
आकर बाँटा हे देवि ! तदपि दुख सारा ।
अब अमर हुई तुम देवि ! किया मुझको भी,
अपने तप का मधु-भाग, दिया मुझको भी ।
मिट गया सभी हृत्ताप, जुडाकर तुमको,
तुम सरस-सुधा-सी मिली, उखटते द्रुम-को ।

देखो ! कैसी जन-भीड उमडती आई—
भर कर स्वागत-उत्साह, जय-ध्वनि छाई ।
मै जान चुका, हैं यही-कि पुष्कर भ्राता,
उस पुण्य-बन्धु-हित, शब्द न मुझको पाता ।
मुझसे ही यह भी भूल हुई कुछ थोडी,
अतिरिक्त अवधि कुछ, पूर्ण अवधि मे जोडी ।
आ-सका यहाँ मै, अतः न प्रेयसि ! तब-से,
आओ, स्वागत-स्वीकार करे अब सब-से ।
आ-रही निशा फिर निकट वही मधु-वाली,
सुनकर फूले से फूल, हुई नत डाली ।

था सिन्धु हर्ष-का उमड-रहा जन-जन-मे,
मिलकर सब से निषधेश मुदित थे मन-मे ।
राजा रानी भी मिले, और वे भाई,
जल-भरे घडे सिर धरे तरुणियाँ आई ।
बज-रहे शख, वादित्र, जगा-प्रिय-मंगल,
जिनकी ध्वनि सुन, उठ भगा सभीत अमंगल ।
कन्याये गाती गीत, खील बरसाती
वृद्धाये कर मधु-याद, सहज मुस्काती
था वही स्वयवर-विम्ब दृगो-में छाया,
कैसी है ओह ! विचित्र राम की माया ।

उस कोने मे कुछ हुआ अचानक रव-सा,
जन-पत्रो मे से पुष्प-तुल्य नीरव-सा—
वह निकल दीन-सा युवक बढा आता है,
ज्यों करुणा-महानद लहर चढ़ा आता है ।

नल-नृप जैसा ही वेश, सुखद आकृति-भी,
ये पुष्कर है नल-अनुज, सुशील सु-मति-भी।
जब तक उठकर नृप उन्हे अक-मे भेंटे—
तब तक सहसा वे निज-कृश अग समेटे—
अग्रज-चरणो-मे गिरे, बिलख रोते थे,
वह दृश्य देखकर सब अधीर होते थे।
"हे अनुज! उठो, यह वक्ष सु-शीतल कर-दो,
लाओ, गोदी-में कमल-वदन निज भर-दो।"
"यह चरण-धूलि हे आर्य्य! मुझे धोने दो,
है असित-वदन, सित इसे तनिक होने दो।
हा-अतुल-स्व-कुल का बना एक घातक मै,
हो गया सभी के लिए सिद्ध पातक मै।
वह चढा राज-मद, ज्ञान ध्यान सब कीला,
अपने हाथो-कर चुका, स्व-मुख मै नीला।"
"तुम दुखी न हो यो-बन्धु! उठो, मुद-भरके,
हो गये कृती तुम-स्वय, स्व-कुल-को करके।
तुमने अनुजो-का वर-कर्त्तव्य निबाहा,
कर दिया स्वय-सा धन्य, मुझे ही आहा।
पंकज-हित, यह जल पक-रूप धरता है,
तम-भक्षी-दीपक ही प्रकाश करता है।
देवो का तो है कार्य, कृपा-ही करना,
पडता जीवो-को कर्म-फलाफल भरना।
दुख झेल स्वय, जग-को जो मार्ग दिखाते,
वे अमर-यशस्वी ही कृतार्थता पाते।
तुम उच्च-भाव दे चुके बन्धु! अनजाने,
वे हो भव-सागर-पार, उन्हे जो माने।
अब उच्च-कुलो-मे द्यूत न जम पावेगा,
यह एक लाभ ही जगत न कम पावेगा।

है-प्रजा-व
संग्रह से है अत्युच्च ासन ।
वह राजहंस-सा क्षणिक-मि सुखकर,
गालव-जैसा क्षण-मात्र-मित्र-भी दुखकर ।"
"हे आर्य्य! निषध-साम्राज्य, चरण-अर्पित है,
जो पहले-से भी अधिक आज दर्पित है ।"
"यह प्रकृत राज्य मिल गया मुझे तुम सब-का,
कर-चुका उसे भी ग्रहण किन्तु मैं कब-का !
अब चलो, चलें हाँ-वहाँ-प्रजा का सुख भी—
करना है हमको पूर्ण, भोगकर दुख-भी ।
स्वागत-की मैं सुन चुका, पूर्ण तैयारी,
कर रहे प्रतीक्षा सभी निषध-जन भारी ।
हे देवि ! कुमुदनी धन्य, तुम्हारा तप-बल,
धुल गये पाप, हो गया अतुल-कुछ निर्मल ।
हे शुभे ! आज ये अश्रु दृगों-से रोको,
हम हुए स्वच्छ तप-पूत, इधर अवलोको ।"
अब आ-पहुँची, साकेतराज की बारी—
हे बन्धु ! आपका हूँ मैं, चिर-आभारी ।"
थे किलक रहे शिशु इधर हर्ष-से फूले,
पाकर पितृ-पद वे ओह ! सभी सुध भूले ।

सज-रहे हैं आज तीनों-लोक,
हर्ष-का छाया सुखद-आलोक !
भर-रहे हैं भक्ति-भाव अनन्य,
जय सती. जय जय, सती-तुम धन्य !